राजा रिपुमर्दन

[क्रान्तिकारी उपन्यास]

हर्षनाथ

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

बनारस ।

प्रकाशक
जनता पुस्तक भण्डार,
१६५/१, हरिसन् रोड,
कलकत्ता ।

प्रथम संस्करण : जनवरी १९५६
मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक
दुर्गा प्रेस
आदि विश्वनाथ, बनारस ।

राजा रिपुमर्दन

मेरे पूर्वज

करीब सौ वर्षों से मेरे खानदान में राजा का खिताब चला आ रहा है। दरअसल, सही मायनों में मेरे पूर्वजों में राजा तो कोई नहीं रहा, किन्तु यह 'राजा' की पदवी जितनी प्रिय मेरे परदादा को थी, उतनी ही प्रिय मुझे भी है और मेरे बड़े लड़के को भी है। जो कि कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ कर असेम्बली में पहुँच गया है और अब मैंने अपनी पुरानी सेवाओं और मुख्य मन्त्री की मित्रता का लाभ उठा कर उसे मंत्री भी बनवा दिया है। मेरे खानदान का हर बच्चा राजा की पदवी ले कर पैदा होता है। इस पद्वी के बिना मेरे कुल के गौरव की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अपने पूर्वजों के पूर्व-इतिहास की मुझे बहुत कम जानकारी है। इसमें कोई शक नहीं कि मौजूदा सौ वर्षों के सिवा मेरे कुल का इतिहास अन्धकार के गर्त में समाया हुआ है। न तो उसकी कोई रूपरेखा है और न कुछ आभास। ऐसा लगता है कि उनमें कोई उल्लेखनीय नहीं हुआ। इसीलिए मेरे परदादा को भी उसके बारे में कोई जानकारी नहीं थी। पिताजी के मुँह से मैंने सुना है कि मेरे परदादा को हमारे पूर्वजों के पूर्व इतिहास की जानकारी प्राप्त करने की बड़ी लालसा थी और जब वे इस इलाके में बस गये, अँग्रेज बहादुर की मेहरबानी से जब उन्हें राजा का खिताब मिल गया, उसके पश्चात् उन्होंने काशी के नामी-

नामी पंडितों को बुलवाया और अपने कुल की वंशावली तैयार करने के लिए निवेदन किया। उन शास्त्रज्ञ पण्डितों के आदर-सत्कार में, दान-दक्षिणा में, उन्होंने कुछ भी नहीं उठा रखा और पण्डितों ने मेरे परदादा की इस श्रद्धा-भक्ति का पुरस्कार भी उन्हें दिया। उन्होंने एक वंशावली तैयार की जिसमें हमारे पूर्वजों का सम्बन्ध सीधे सूर्यवंशी राजाओं से जोड़ दिया और हमारे पूर्वजों की कड़ी राजा रामचन्द्र को छूती हुई इक्ष्वाकु तक पहुँच गयी। भाँटों ने मेरे कुल की प्रशस्ति में कवित्त रचे जिन्हें अब भी हम बड़े चाव से सुनते हैं। इस वंशावली को देख कर हमारे परदादा परम सन्तुष्ट हुए थे। पिता जी भी गर्व से इस बात का उल्लेख करते थे कि हम राजा राम की परम्परा के हैं। कहने के लिए तो मैं भी अपनी विरादरी में बड़े गर्व से इस बात की घोषणा करता हूँ कि हमारे पूर्वजों ने एक दिन भारत का इतिहास रचा था, उनकी गुण-गाथा ही सारे देश का इतिहास बन गयी थी, किन्तु जहाँ तक मैंने समझा-बूझा है, मेरे पूर्वज मध्य प्रदेश के गोंड़ थे। यद्यपि यह बात मैं अपने मन के अन्तरतम प्रदेश में छिपा कर रखता हूँ, पर कभी-कभी यह सत्य शूल-सा चुभ उठता है—परम प्रतापी राजा रिपुमर्दन के पूर्वज गोंड़!

किस तरह मेरे परदादा राजा अरिमर्दन राजा की पदवी से विभूषित हुए, इसकी एक दिलचस्प कहानी है। शायद ही किसी को उक्त घटना के बारे कुछ मालूम हो। मेरा बड़ा लड़का बीरेश्वर बहादुर जब मन्त्री बना तो उसके सम्मान में बनारस के नागरिकों ने उसे मानपत्र समर्पित किया था। उस आयोजन में हमारे प्रान्त के अन्य मन्त्रियों के सिवा मुख्य मन्त्री भी उपस्थित थे। उन्होंने हमारे खानदान की सेवाओं का उल्लेख करते हुए कहा था कि इस खानदान के रक्त में देश-सेवा का बीज समाया हुआ है। सन् सत्तावन में अँग्रेजों के विरुद्ध मोरचा लेने में बीरेश्वर बहादुर के परदादा सब से आगे थे और जब देश में गान्धी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन छिड़ा, तब इनके पिता अपने क्षेत्र

के तपे हुए कार्यकर्त्ता के रूप में सामने आये और ये भी लायक बाप के सपूत हैं।

सुन कर मेरा मस्तक गर्व से हाथ भर ऊँचा उठ गया था और छाती गज भर चौड़ी। कहने के लिए तो मैं भी अपने परदादा राजा अरिमर्दन को सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों में मानता हूँ और इस बात को आज भी बड़े तपाक से घोषित करके अपना सिर ऊँचा रखता हूँ ; पर सही बात कुछ और है। नेपथ्य का दृश्य कुछ और ही है।

कम्पनी बहादुर का नक्षत्र चमक रहा था। अँग्रेज तप रहे थे। देशी राजा-रजवाड़ों, नवाब-रईसों का सितारा डूब रहा था। लार्ड डलहौजी का जमाना था। बंगाल के नवाबों का जनाजा उठ चुका था। बंगाल में कम्पनी की सत्ता को चुनौती देने वाला विद्रोही सिराजुद्दौला दशाब्दियों पहले ही अँग्रेजों की कूटनीति और मीरजाफर की लोलुपता में स्वाहा हो चुका था। परम प्रतापी मराठे और मैसूर के हैदरअली तथा टीपू सुल्तान आपस में टकरा कर कभी के चकनाचूर हो चुके थे। फिर डलहौजी की नीति ने रहे-सहे देशी रजवाड़ों व नवाबों का काम तमाम कर दिया था। पश्चिमी भारत के प्रहरी राजा रणजीत सिंह की कालवाहिनी, जिसके दर्प और तेज के कारण प्रतापी अँग्रेजों के लिए सतलज नदी लक्ष्मण-रेखा-सी अलंघ्य हो गयी थी—छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। उसके वंशजों की तलवार कुंठित हो चुकी थी। बाबर के शौर्य और अकबर की नीति से पालित-पोषित शाहजहाँ की कलाप्रियता से से सजायी सँवारी मुगलिया सल्तनत का ताज बूढ़े और कमजोर बहादुर शाह के काँपते सर पर डगमगा रहा था कि हवा का एक भी झोंका आये और वह ताज लुढ़क कर धूल में लोटने लगे। सम्पूर्ण भारत पर अँग्रेजों का सूर्य चमक रहा था। किन्तु भीतर ही भीतर असन्तोष की आग धधक रही थी और सन सत्तावन में वह आग ऐसी धधकी कि

उसमें ब्रिटिश शासन खत्म होता नजर आया। किन्तु अँग्रेजों ने कूट-नीति से काम लिया। लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए जहाँ एक तरफ राजदंड को सँभाला वहाँ अपने पक्ष वालों के लिए थैली का मुँह खोल दिया। उन्हें इलाके बाँटे, खिताब बाँटे और इस तरह विद्रोहियों पर कब्जा करके अपनी डूबती कश्ती को बचा लिया।

इस उथल-पुथल से कुछ ही वर्षों पहले मेरे परदादा मध्यप्रदेश से उजड़ कर यहाँ आ बसे थे। वहाँ से उजड़ने का कुछ खास कारण तो मुझे ज्ञात नहीं है, केवल इतना मालूम है कि हमारे मध्य प्रदेश के पूर्वज अच्छे खाते-कमाते घर के थे। हमारे परिवार में कलह उत्पन्न हो चुका था। मामला रियासत के राजा तक पहुँचा। राजा ने फैसला मेरे पर-दादा के खिलाफ किया। फलतः हमारे परदादा विरक्त और निराश हो कर तीर्थ यात्रा पर निकल पड़े और घूमते-घामते काशी आये। बनारस का राज उस समय कम्पनी बहादुर के कब्जे में कभी का आ चुका था। पहले वह अवध की नवाबी के अन्तर्गत था और अब तो अवध पर अँग्रेजी झण्डा लहरा रहा था। हमारे परदादा तीर्थ-यात्रा से निवृत्त हो चुके थे। सही बात यह है कि वे संसार से विरक्त होने वाले प्राणी नहीं थे। उन्होंने अधिकार भोगा था और बिना अधिकार के वे जी नहीं सकते थे। किस तरह उन्हें बनारस जिले के एक बड़े जमीदार के यहाँ कुछ जगह-जमीन मिल गयी, यह तो मुझे मालूम नहीं, परन्तु आगे की घटना मुझे अच्छी तरह मालूम है।

दिल्ली के लाल किले पर हिलाल का झण्डा लहरा रहा था। उसके नीचे लाखोंलाख हिन्दू-मुसलमान अँग्रेजी सेना के छक्के छुड़ा रहे थे। रानी लक्ष्मी बाई और पेशवा ने कालपी-कानपुर के क्षेत्र से अँग्रेजों को नेस्तनाबूद कर दिया था। लखनऊ में अँग्रेजों का पासा पलट चुका था। किन्तु इसकी आँच बनारस पर नहीं आयी थी। इसी समय शाहाबाद के एक बहुत बड़े जमीदार कुवँरसिंह ने अँग्रेजों

के विरुद्ध बिगुल फूँका। पश्चिमी बिहार और पूर्वी उत्तर-प्रदेश उस ध्वनि से गूँज उठा। उस लहर में कई जिले बह गये। इस इलाके से भी हजारों की संख्या में नवजवान पुरुष कुँवर सिंह की फौज में भरती हुए थे। गाय, बैल, भैंस चराते चरवाहे, खेत जोतते किसान, मजदूर-बनिहार सभी बहुत बड़ी तायदाद में उस फौज में भरती होने गये थे। अपने लड़कपन में उनमें से कइयों से मैंने खुद बातें की है। उस समय की कहानियाँ सुनी है। उनका जोश-खरोश उनके बुढ़ापे में भी जैसे ताजादम था।

कुँवर सिंह की फौज ने जब गंगा पार कर आजमगढ़ पर हमला किया था उस समय एक अँग्रेज अधिकारी इस इलाके में आ भटका था। कुँअर सिंह की फौज से पराजित होकर जब वह अपने बचे-खुचे सैनिकों के साथ इस इलाके से भागा जा रहा था तब इस इलाके के उस समय के जमीदार के प्यादों और जनता ने उसे घेर लिया था। कहते हैं कि जमीदार की भी उसमें सह थी। कई सिपाही मारे गये थे। किन्तु उस अँग्रेज अधिकारी को हमारे परदादा ने बचा लिया था। उसे अपने घर में आश्रय दिया था। यह भी कहते हैं कि जमीदार के सिपाहियों से जब वह भाग निकला था, जान बचाने के लिए त्राण ढूँढ़ रहा था। पीछे-पीछे लोग उसका पीछा करते आ रहे थे। हमारे परदादा की उस पर नजर पड़ी। उसने गिड़गिड़ाकर हमारे परदादा से आश्रय की भिक्षा माँगी, भविष्य के लिए पूरे इलाके को उनके अधीन कर देने का वायदा किया और हमारे परदादा उसे अपने घर ले आये और जनानेकपड़े पहना कर छिपा दिया। किसी भी तरह कोई भी उसकी टोह नहीं पा सका था।

उस अँग्रेज अधिकारी की राय से हमारे परदादा ने अपना एक विश्वस्त आदमी दानापुर कैम्प में भेजा वहाँ से सरकारी मदद आयी और इस तरह अँग्रेज अधिकारी की रक्षा हुई। साथ ही उस दिन से हमारे

खानदान का भाग्य नक्षत्र चमक उठा था। उस अँग्रेज ने खुद अपने हाथों से इलाके के जमीदार को कत्ल किया था। सड़क के किनारे पीपल के पेड़ पर फाँसी लटका दी गयी थी और सैकड़ों-हजारों आदमियों को मौत के घाट उतारा गया था। जब सब कुछ शान्त हो गया तो वह इलाका हमारे परदादा के जिम्मे कर दिया गया। तब से वही उसके जमीदार हो गये। सरकार की ओर से राजा का खिताब उन्हें मिला। विद्रोह के शान्त होने पर तत्कालीन वायसराय लार्ड कैनिंग ने पहली नवम्बर सन् १८५८ ई० को जो इलाहाबाद में दरबार करके महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढ़ा था, उसमें सम्मिलित होने के लिए हमारे परदादा भी गये थे।

हमारे परदादा राजा अरिमर्दन की हल्की सी स्मृति मुझे अब भी है। तब मैं कोई पाँच वर्ष का रहा होऊँगा। किन्तु उनकी मूर्ति अब भी आँखों में घूमती है—हल्का साँवला रँग, कद्दावर शरीर, चौड़ा माथा, घनी दाढ़ी और मूँछ। दाढ़ी को वे गुलगुच्छेकी तरह रखते थे। उनकी आँखों को याद करके अब भी मुझे भय मालूम हो जाता है, जैसे सदा वे क्रोध में लाल रहती हों। बड़े बैठकखाने में वे गद्दी-तकिया के सहारे बैठे रहते थे। बगल में दीवानजी। कुछ नीचे हटकर कारिन्दे और मुन्शी। पीछे प्यादे खड़े रहते थे और सामने हाथ बाँधे असामियों की पाँत!

हमारे दादा का इन्तकाल तभी हो गया था जब कि पिताजी साल भर के थे इसलिये उनकी स्मृति पिताजी को भी नहीं थी।

बाल्य-स्मृति

जब मेरे परदादा की मृत्यु हुई, उस समय मेरी उम्र मुश्किल से छः वर्ष की रही होगी। मृत्यु के समय वे काफी बूढ़े हो गये थे। जमीदारी का सारा कारबार मेरे पिता राजा शत्रुमर्दन ही सम्हालते थे।

पाँच वर्ष की उम्र का मेरा पहरावा-ओढ़ावा मुझे अब भी अच्छी तरह याद है। अकसर मैं नंगा ही रहता था। किन्तु पैरों में सोने के कड़े, हाथों में सोने का गूँजा, कानों में सोने की बालियाँ और कमर में करधनी हर वक्त पड़ी रहती थी।

पिताजी को मालिश कराने का शौक था। सबेरे नित्यकर्म से निवृत्त होकर वे तख्त पर लेट जाते थे। दो कहार घन्टों तेल लगा कर सारे शरीर की मालिश करते रहते थे। इन दोनों कहारों का वहाँ काफी रोब था। हमारे पिताजी शरीर की मालिश कराते जाते और उनकी बातें सुनते जाते थे। वे इन कहारों की बातों का पूरा विश्वास करते थे। दूसरे नौकरों की चुगली करना, असामियों के बारे में पूरा समाचार देना, कौन आसामी क्या बातें करता है, किसकी किससे साँठ-गाँठ रहती है, कौन रुपया रखकर भी लगान देने में ढिलाई करता है, किसके ऊपर और भी सख्ती होनी चाहिए ऐसी अनेक बातें मालिश करते-करते ये दोनों कहार पिताजी को सुनाते थे। बाहरी नौकर-चाकर, असामी वगैरह इन कहारों से काफी डरते रहते थे। पता नहीं कब किसकी शिका-

यत कर दें और फिर हमारे पिताजी का क्रोध यमराज के क्रोध से भी भयंकर होता था। जिस पर वे नाराज हो जाते थे उसे मिटा कर ही तो दम लेते थे।

मालिश करने वाले इन दोनों कहारों के सिवा रमिया नाम की एक लौंडी थी, उसकी बात भी पिता जी कभी नहीं टालते थे। पिता जी चाहे कितने भी नाराज क्यों न हों, रमिया सामने जाकर खड़ी हो जाती थी तो पिता जी नरम पड़ जाते थे। वैसे तो हमारे यहाँ काम करने वाली दर्जनों दासियाँ थी, परन्तु रमिया की उन सभी के ऊपर धाक थी। यहाँ तक कि घर के और लोगों की भी वह कभी-कभी उपेक्षा कर बैठती थी और पिता जी के सामने जब यह बात जाती थी तब वे हँस कर चुप लगा जाते थे। इस रमिया को लेकर पिताजी और माता जी में कभी-कभी कहा-सुनी हो जाती थी। मुझे वह दृश्य नहीं भूलता जब रमिया को लेकर पिता जी ने एक बार माँ को डाँट दिया था और माँ अपने कमरे में जाकर चारपाई पर पड़ गयी। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी और वह अपना मुँह अपने दोनों हाथों में छिपाये थी। मैं छोटा बच्चा था। जाकर माँ के पास खड़ा हो गया। इतनी भनक मुझे जरूर थी कि मेरी माँ को पिता जी ने रमिया के कारण ही डाँटा है। माँ का हाथ पकड़ कर मैंने कहा था—माँ, रमिया बड़ी खराब है, हम उसको मारेंगे। तुम मत रोओ।

मेरी इस बात को सुन कर माँ ने मुझे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया था किन्तु और भी जोर से फफक-फफक कर रोने लगी थी।

उस समय मेरी बाल-बुद्धि में यह बात नहीं आती थी कि पिता जी रमिया का इतना पक्ष क्यों लेते हैं और माँ रमिया से इतना नाराज क्यों रहती हैं। धीरे-धीरे, जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया, मुझसे यह यह राज छिपा न रहा। पहले जब मैं नहीं समझता था तब पिता जी पर क्रोध आता था कि रमिया के लिए माँ को क्यों डाँट बैठते हैं। पर जब

समझदार हो गया तब अच्छी तरह समझ गया कि पिता जी की इसमें कोई गलती नहीं थी। पिताजी तो वही कर रहे थे जिसे सभी राजा-नवाब, रईस-जमीदार करते हैं। जिसे हमारे परदादा ने किया, पिता जी ने किया, मैंने किया और बीरू—खैर वह लड़का है, उसके बारे में क्या सोचूँ! पर रमिया लौंडी कोई अपवाद नहीं थी। राजपूताना में तो राजा-रईसों की वजह से दारोगा की नाम एक जात ही अलग बस गयी है जिसमें सभी रखेलों की सन्तानें हैं। हमारे खानदान वालों ने वैसी कोई जात तो नहीं बसायी पर तो भी ऐसी रखेलों और उनकी सन्तानों की संख्या कम नहीं होगी। पर माता इस बात को नहीं समझती थी कि यह तो जमींदारी शान है।

बड़े बैठकखाने में एक बड़ी चौकी पड़ी रहती थी। उस पर मोटे-मोटे गद्दे बिछे रहते थे और मसनद पड़ी रहती थी। स्नान-पूजा और जलपान से निवृत्त होकर पिता जी उस तख्त पर बैठते थे। हर वक्त उनके हाथ में फर्शी की निगाली पड़ी रहती था। तम्बाकू के सुगन्धित धूएँ से बैठकखाना भरा रहता था। पिता जी के साथ ही दीवान जी बैठते थे। उनकी चौकी के पास ही कुछ हट कर बगल में कारिन्दे और मुन्शी लोग बही-खाते और कागजात सँभालते थे। लगान का हिसाब-किताब देखते थे। पिता जी के पीछे की तरफ दो-तीन प्यादे खड़े रहते थे। उनमें से एक का नाम मुझे अब भी याद है। उसका नाम बलदेव था। नाटा, गठीला शरीर, काला रङ्ग। नन्हीं-नन्हीं, लाल-लाल आँखें जैसे क्रुद्ध बनैले सूअर की आँखें हों। पिताजी के आदेश पर असामियों को वह कोड़े लगाता था।

मुन्शी और कारिन्दे से हट कर थोड़ी दूर पर काश्तकार-किसान-मजदूर हाथ बाँध थरथर काँपते रहते। उनमें से कुछ के यहाँ लगान बकाया होती, कोई हरी-बेगारी में ढिलाई किये रहता, कोई जमीदारी के पेड़-पौधे काटे रहता, कोई आम-कटहल चुराते पकड़ा गया होता, कोई

और किसी जुर्म में। बकाया लगान वालों का हिसाब कारिन्दे दीवानजी को समझाते। दीवानजी बड़े गौर से उस हिसाब-किताब को देखते, समझते और उस किसान से समय पर लगान चुकता न कर देने की कैफियत तलब करते। सभी बकाया लगान वालों का प्रायः एक ही सा जवाब रहता है। मेरे पिताजी के जमाने में भी और मेरे जमाने में भी। सदा ही मैंने उनके मुँह से सुना कि फसल मारी गयी है, लगान ज्यादा है, समय पर खेत में जोताई नहीं हुई, बीज नहीं पड़े, क्योंकि बीज डालने के समय कारिन्दे-प्यादे बेगार में उन्हें पकड़ ले गये। पर ऐसे बहानों में कोई दम नहीं रहता। उनका इलाज करना ही पड़ता है।

हाँ, तो दीवानजी ऐसे असामियों को पुकारते। सामने आकर हाथ जोड़े वह खड़ा हो जाता और किसानों में परम्परा से चले आये बहाने बनाता। दीवानजी अकसर काश्तकारों को लगान चुकाने के लिए दस-पाँच दिन की मुहलत दे देते थे। किन्तु जो सरकश किसान होते थे, जिनकी आदत ही लगान बकाया रखने की होती थी उनको सजा दी जाती थी। यह सजा मैंने भी अपने समय में उसी तरह की रखी जैसी पिताजी के समय में थी। असामी को वे बलदेव के हवाले कर देते थे। बलदेव के सिवा और भी दो-एक प्यादे इस काम में माहिर थे। बकाया लगान वाले किसानों, बेगार देने में ढिलाई करने वालों तथा जमींदारी पेड़-पौधे काटने वालों को एक बड़े अहाते में ले जाया जाता था और वहाँ उन पर कोड़े बरसाये जाते थे। कभी-कभी दीवानजी और पिताजी भी खड़े होकर अपने सामने कोड़े लगवाते थे, पर ऐसा तभी होता था जब वे किसी से बहुत ज्यादा नाराज होते थे। उस समय कोड़े लगाने वाला अगर जरा भी ढिलाई से काम लेता तो पिताजी गुस्से में आकर उसके हाथ से कोड़ा छीन लेते थे। दो चार कोड़ा, कोड़ा मारने वाले को लगा देते थे। और फिर मुजरिम को पीटते-पीटते बेदम कर देते

थे। पिताजी की यह आदत मुझमें भी कायम रही है। लगता है जैसे यह पुश्तैनी हो !

साधारण हालतों में कोड़ेबाज ही उन्हें कोड़े लगाता था। मैं अक्सर तमाशा देखने के लिए खड़ा हो जाता था ? सड़ाक-सड़ाक कोड़े की आवाज सुनने में मुझे बड़ी अच्छी लगती थी। अक्सर कोई प्यादा मुझे गोद में उठा कर खड़ा रहता और कोड़ेबाज मुजरिम का शरीर लहू-लुहान कर देता। उनके घर वाले भी कभी-कभी बड़े फाटक पर हाजिर हो जाते थे और अपने आदमियों की दुर्गति पर रोते-पीटते थे। उनका रोना पीटना और चिल्लाना देख कर मुझे एक तरह की खुशी होती थी।

गरमी के दिनों में दोपहर की धूप में सजा देने के लिए आदमियों को खड़ा कर दिया जाता था। उनके सिर पर कभी कभी जलती धूल डाली जाती थी। जाड़े की रात में कभी-कभी बाहर खड़ाकर दिया जाता था और कभी प्यादे तालाब का ठण्डा पानी उनके ऊपर छिड़क देते थे ताकि जाड़े की रात की ठण्डक बढ़ जाय।

एक बार की बात मुझे याद है। कोई बहुत ही सरकश किसान था। प्यादों और कारिन्दों से उसकी तकरार हो जाया करती थी। पिता जी ने उसे पकड़ मँगवाया। खुद अपने हाथों से पीटते-पीटते उसे बेदम कर दिया। पिताजी क्रोध के मारे आपे के बाहर थे। सभी लोग थर-थर काँप रहे थे। असामी जब बेदम हो गया तो पिताजी ने उसे पीटना छोड़ दिया। जाड़े के दिन थे। शाम की यह घटना है। रात में उसे बाहर ही पड़ा रहने दिया गया। काफी देर बाद उसे होश आया। उसके होश आने के बाद बलदेव ने आग में पत्थर गरम करके उसे जगह-जगह दागना शुरू किया। उस जलते पत्थर के स्पर्श से वह छनछना उठता था। उसका वह छनछनाना मुझे बहुत पसन्द आया। मैंने भी यह खेल करने की इच्छा जाहिर की। तब मैं सात वर्ष का रहा होऊँगा। एक प्यादे ने मुझे गोद में उठा लिया और चिमटा गरम करके उसके

ऊपर का हिस्सा मेरे हाथ में थमा दिया और उस गर्म चिमटे से मैंने उस असामी को कई जगह दाग दिया। एक बार उस गर्म चिमटे को मैंने उसके गाल से छुआ दिया। जलन की पीड़ा से उसने हाथ से अपना गाल सुहलाया तो झटके से चिमटा मेरे हाथ से गिर गया। मेरे हाथ से चिमटा एक असामी गिरा दे! प्यादे ने इस जुर्म की सजा में उसके एक हाथ की हथेली को पैरों से दबा दिया और दूसरे प्यादे ने आग का एक अंगारा उसकी हथेली पर रख दिया।

उस समय की एक घटनाकी याद मुझे आज भी ताजा है। बनारस से आयी हुई एक रामलीला मण्डली हमारे यहाँ टिकी हुई थी। रात को आठ बजे रामलीला शुरू होती और दो घण्टे तक होती थी। पिताजी खुद भी रामलीला देखते थे। मैं दीवानजी की गोद में बैठा रामलीला देखता रहता। लंका-दहन का दृश्य मुझे बहुत ही पसन्द आया था। सन की लकड़ी और फूस से कई झोपड़ियाँ बनायी गयी थीं। हनुमानजी की पूँछ में जैसे ही आग लगायी गयी, उछल कर उन्होंने उन मड़इयों में आग लगा दी। वह दृश्य मुझे इतना पसन्द आया कि दूसरे दिन मैंने दीवानजी से जिद्द की कि मैं भी लंका दहन करूँगा। पिताजी पास ही बैठे थे। सुनकर वे और दीवानजी हँसने लगे। फिर दीवानजी ने एक कारिन्दे से कहा—"मुन्शीजी, कुँवर साहब लंका दहन के लिए मचल रहा है। कुछ फूस-फास में इसके द्वारा आग लगवा दो।"

मुन्शी ने कहा—"सरकार फूँसफास में क्यों, किसी की मड़ैया में आग लगवाये देता हूँ।"

यह कह कर मुन्शीजी ने एक प्यादे को आवाज दी। उसे कुछ समझाया और फिर पालकी पर बैठा कर मुन्शीजी मुझे पास के एक गाँव में ले गये। वहाँ ज्यादातर चमारों की बस्ती थी। गाँव के किनारे की एक मड़ैया को उन्होंने लंकादहन के लिए चुना। बूढ़ा चमार और उसकी बुढ़िया उसमें थे। उन्हें निकाल बाहर किया गया। आग का एक

लुक मेरे हाथों में थाम दिया गया। और मैंने उसे मड़ैया के फूस से छुआ दिया। देखते-देखते ऊँची लपटें उठीं और मड़ैया जलकर खाक हो गयी, आखिर सूखी फूस जलते कितनी देर लगती! मैं मगन होकर देखता रहा। बूढ़ा चमार तो चुपचाप रहा, पर उसकी बुढ़िया रोने-चिल्लाने लगी। प्यादे ने दो चार हाथ लगा दिये। मुन्शीजी ने गाली देकर कहा—"रोती क्या है। जा बाँस और फूस मुफ्त में मिल जायगा।"

*   *   *

बूढे दीवानजी की याद मुझे अब भी ताजा है। गोरा चिट्टा रँग, औसत दर्जे की ऊँचाई, गठा हुआ शरीर, चेहरे पर एक आब, आँखों में अधिकार और रसिकता का समन्वय। उम्र उनकी सत्तर के पार जा चुकी थी पर तन कर चलते थे। गर्मियों में महीन कपड़े का चूड़ीदार कुर्त्ता, दुपलिया टोपी के नीचे से लटकती हुई सवारी जुल्फें, एँड़ी छूती हुई चुन्नटदार धोती, पैरों में सलेमशाली जूता, हाथ में चाँदी की मूठ की हलकी छड़ी—यह उनकी हर वक्त की पोशाक थी। बाहर जमीदारी पर अथवा शहर या और कहीं जाते थे तो लम्बी अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहनते थे। जाड़े के मौसम में एक खवास हर वक्त दुशाला लिये साथ-साथ चलता था। जब जरूरत पड़ती थी तो बड़े करीने से ओढ़ लेते थे। उनके पहिरावे-ओढ़ावे, रहन-सहन, बातचीत, व्यवहार-बर्ताव, हर काम में एक नफासत और शालीनता की झलक मिलती थी। स्वभाव में पूरी रसिकता और उदारता। असामियों पर सख्ती भी करते थे और रहम भी रखते थे। पिताजी के वे दीवान थे तो सही, परन्तु पिताजी उनको अपने बुजुर्ग की तरह मानते थे। उनके काम में किसी तरह का दखल नहीं देते थे। दीवानजी जब दौरे पर निकलते थे तब सोलह कहारों की पालकी पर चलते थे। कारिन्दे और मुन्शी साथ रहते

थे। जब कभी कोई पेचीदा मामला आता था, शहर में कलक्टर अथवा अन्य किसी अधिकारी से मिलना होता, सम्बन्धी जमीदारों के यहाँ, जहाँ पिताजी नहीं जा पाते थे, वहाँ पिताजी के प्रतिनिधि के रूप में जाते थे। फारसी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे, नागरी भी जानते थे। सारा काम काज वे उर्दू में ही करते थे।

मैं अक्सर उनकी गोद में बैठ जाता था। कितना भी झल्लाया मैं रहता, पर जैसे ही उनकी गोद में पहुँचता शान्त हो जाता था। वह गोद मुझे बहुत ही प्रिय थी। अपनी जमीदारी में मैंने पूर्ण अधिकार भोगा है। अँग्रेजी और कांग्रेसी अधिकारियों का आदर-सम्मान प्राप्त किया है। जहाँ हमारे जैसे जमीदारों की पहुँच ही न हो, वहाँ भी मैंने सम्मान के साथ रसाई पायी है, पर जो आत्म-संतोष और सुख मुझे दीवानजी की गोद में बैठने से उस समय मिलता था, वह मुझे अन्यत्र दूभर ही रहा। पिताजी के जीवन-काल में ही जब मैंने जमीदारी का का कारबार सम्हाल लिया, तब दीवानजी नब्बे पर पहुँच रहे थे। तब वे दीवानी का काम-काज सम्हालने में असमर्थ हो गये थे, फिर भी मेरे लिये दीवानजी उसी आदर और श्रद्धा के पात्र रहे। पिताजी को मैं भय और आशंका की दृष्टि से देखता था। तनख्वाह तो उन्हें तीस रुपये ही मिलती थी, किन्तु जगह-जमीन और सभी सुविधाएँ उन्हें जमीदारी की ओर से मिली हुई थी।

दीवानजी के सिवा दर्जनों कारिन्दे और मुन्शी थे जिनकी ओर मेरा कोई झुकाव नहीं था। वे मुझे सरकार, हुजूर, शाहजादा साहब, कुँवर साहब कहकर पुकारते थे और उनकी ओर उपेक्षा और हिकारत से देखकर मैं नजरें फेर लेता था। उस समय भी मेरी बाल बुद्धि ने इस तथ्य को समझ लिया था कि रईस-जमीदारों के लड़कों को हर ऐरे-गैरे से बात नहीं करनी चाहिये। इससे उनका रुतबा घट जाता है। फिर

जब मैं कारिन्दों, मुंशियों से भी मुँह भर बात नहीं करता था तब प्यादे-सिपाहियों की तो बात ही क्या थी।

*　　　　*　　　　*

कारिन्दों को सात रुपये माहवार, मुंशियों को पाँच रुपये और प्यादे सिपाहियों को एक रुपया से लेकर दो रुपये तक तनख्वाह दी जाती थी। इसके सिवा हर वक्त बेगार में पकड़ कर आने वाले दर्जनों आदमी काम करते रहते थे। पिताजी को घोड़ों का शौक था। एक दर्जन अच्छी नस्ल के घोड़े और दो-तीन हाथी बँधे रहते थे। इन्हें अपने समय में मैंने कुछ दिनों तक निभाया, किन्तु बाद में जब मैंने तीन-चार अच्छी मोटरें खरीद लीं तब घोड़ों को मैंने बेच दिया। शौक के नाम पर दो तीन रह गये। इनकी खिदमत करने वाले अधिकतर बेगार रहते थे! हर गाँव से पारी बँधी रहती थी और एक-एक सप्ताह के लिए एक-एक गाँव से अहीर, कोईरी, चमार वगैरह पकड़ कर लाये जाते थे। भण्डार से उन्हें खाने के लिए सामान मिल जाता था। इसके सिवा और किसी तरह की मजदूरी उन्हें नहीं दी जाती थी।

कुछ ऐसे भी नौकर हमारे यहाँ थे जिनका खानदान हमारे परदादों के समय से हमारे यहाँ काम करता आ रहा था। मन-दो मन अनाज या दस-पाँच रुपये उनके घर वालों को दे दिया गया था और उसी के सूद में उनके घर का एक आदमी हमारे यहाँ काम करता था। पिताजी की मालिश करने वाले दोनों कहार ऐसे ही थे। उनमें से एक के बाप को हमारे परदादा ने दो मन मडुआ और दो मन जौ दिये थे। उसी के सूद में उसने काम किया और जब वह मर गया तो उसका लड़का काम कर रहा था। एक को हमारे पिताजी ने उसकी शादी में दस रुपये दिये थे जिसके सूद में काम कर रहा था। मरते दम तक वह कर्ज अदा न कर सका। उसके मरने के बाद उसके लड़के ने मेरे यहाँ काम किया।

दस वर्षों तक उसके लड़के ने मेरे यहाँ काम किया; फिर कर्ज की रकम बिना चुकाये ही चुपके से एक दिन कलकत्ता भाग गया। वहाँ ही उसने शादी-ब्याह कर लिया। फिर इधर कभी नहीं आया। अगर आता तो गद्दारी करने का मजा मैं उसे चखा देता! हरामखोर की खाल उधेड़ कर रख देता, तब उसे मालूम होता कि राजा रिपुमर्दन की हरामी करने का क्या नतीजा होता है!

बलदेव भी सूद में ही नौकर था। पिताजी उससे बहुत खुश रहते थे। कोड़े मारने में वह एक नम्बर का उस्ताद था। एक बार जिस असामी ने उसके कोड़े खा लिये, वह या तो जमीदारी छोड़ कर भाग निकला या अगर रहा तो लाख उपाय करके समय पर लगान अदा कर देता था। चाहे इसके लिये बर्तन-भाँड़े बेचना पड़े या औरत की नथिया-कड़े बन्धक रखने पड़ें, पर मजाल क्या कि लगान समय पर चुकता न कर दे।

बलदेव का पूरा परिवार वफादार था। पिताजी ने उसे दस रुपये दिये थे, उसी में उसने अपनी उम्र भर काम किया। उसका लड़का मेरे समय में काम कर रहा था। और अब उसका नाती बीरू के साथ लखनऊ में है। पर अब वह बात नहीं है। बीरू उसे खाना कपड़ा मुफ्त तो देता ही है, पाँच रुपये माहवार भी देता है, पर इतना मुझे मालूम है कि अगर बलदेव जीता रहा होता तो वह लाख कोशिश करने पर भी महीना नहीं लेता। वफादारी और नमक-हलाली तो उसके खून के कतरे कतरे में समायी हुई थी! एक घटना मुझे याद आ रही है जिससे उसकी अटल वफादारी पर प्रकाश पड़ता है। जब मैं बनारस में पढ़ता था, छुट्टियों में घर आया हुआ था। घोड़े पर चढ़कर गंगा की तलहटी के पलाश वनों में मैं हिरन और जंगली सुअर का शिकार खेलने जा रहा था। साथ में दो प्यादे भी थे। रास्ते में बलदेव के गाँव से जब मैं गुजर रहा था तब खेत की मेड़ पर खड़ी एक लड़की नजर आयी।

उसकी सूरत अब भी मेरी आँखों में घूम रही है। भरा हुआ गदराया बदन, गोरा शरीर, हिरनी की तरह आँखें ! जब मैं उधर से गुजरा तो चकित हिरनी की तरह मेरी ओर देखती रह गयी। बाग खींच कर घोड़े को मैंने रोक लिया। मंत्र-मुग्ध-सा मैं उसकी ओर देखता रह गया। मेरा आपा बिसर गया। वैसा उन्माद मैंने कम ही अवसरों पर महसूस किया है। मेरी जिन्दगी में एक से एक बढ़कर औरतें गुजरी हैं, गाँव की भोलीभाली लड़कियों से लेकर, शहर की खेली-खायी औरतें और मरदों के कान काटनेवाली पतुरियाँ। पर जैसा नशा मुझ पर उस दिन छाया, वैसा मैंने बहुत कम अवसरों पर महसूस किया है। एक प्यादे ने घोड़े की लगाम थाम ली, दूसरा मेरे पीछे-पीछे। लपक कर मैंने उस लड़की को अपनी बाँहों में उठा लिया और उसके ओठों पर अपना मुँह रख दिया। फिर पास खड़े प्यादे की ओर मैंने देखा। वह मेरा मन्तव्य समझ गया। लड़की हाथ पैर-मार रही थी। बप्पा-दैया कर रही थी, पर मैं ऐसी बातों का अभ्यस्त हो चुका था।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह लड़की बलदेव की बेटी थी। मुझे अफसोस तो नहीं हुआ, किन्तु कुछ भय जरूर मालूम हुआ। बल-देव अगर पिताजी से कह दे ! मैंने अपने एक प्यादे के जरिये बलदेव के पास एक रुपया भेजवा दिया। उस समय तो बलदेव ने वह रुपया रख लिया, किन्तु बाद में एकान्त पाकर वह मेरे सामने हाजिर हुआ। हाथ जोड़कर बोला—"सरकार यह रुपया आप रख लें। सरकार निशा-खातिर रखें। बड़े सरकार के कानतक इसकी भनक भी नहीं पहुँचेगी। सरकार के ही नमक से यह तन पला है। जीते जी कभी कोई खता नहीं होगी।"

ऐसा था नमकहलाल वह बलदेव।

२

स्मृति की पहली रेखा

उस समय की स्मृति में मेरे बचपन के शिक्षक मौलवी मुख्तार अली की सूरत आज भी आँखों में घूमती है। उनकी सफेद दाढ़ी मेरे आकर्षण का केन्द्र थी। संस्कृत और हिन्दी के बजाय मेरी प्रारम्भिक शिक्षा फारसी से शुरू होने की वजह यह थी कि पिताजी के दीवान मुंशी हरदेव सहाय फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी को वे भाखा कहते थे और उसका ज्ञान वहीं तक अपेक्षित समझते थे जिसमें काम-काज की चिट्ठियाँ लिखी-पढ़ी जा सकें, रामायण आदि पढ़ सकें। उन्हीं के सुझाव से मेरी शिक्षा फारसी से प्रारम्भ हुई। फारसी हरफों का ज्ञान करा देनेके बाद मौलवी साहब ने मुझे करीमा खालिकबारी रटाना शुरू कर दिया था और मैं झूम-झूम कर उसे रटता था।

दासियों और लौंड़ियों से भी मैं घिरा रहता था। वैसे कहने के लिए तो मेरा मकान किला कहा जाता था, पर किले का कोई लक्षण उसमें नहीं था। उसे बड़ी हवेली कहा जा सकता है। दासियों और नौकरानियों में कुछ तो मेरी माँ के नैहर से उनके संग दहेज के रूप में आयी थीं। कुछ शादीशुरद थीं जिनके मर्द साथ आये थे, और जो क्वारी थीं, उनकी शादियाँ हमारे यहाँ आने पर हमारे नौकरों में से ही हो गयी थीं।

उन दासियों और लौंड़ियों में रमिया की तूती बोलती थी। यहाँ तक कि माताजी भी मन ही मन उससे डाह रखती थीं, पर उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाती थीं। पिताजी की उस पर खास नजर थी। कुछ और भी दासियाँ और लौंड़ियाँ थीं जिन पर पिताजी की मेहरबानी रहती थी।

इन दासियों वगैरह के सम्पर्क में मैं बचपन में कम ही रहता था। मेरा आकर्षण भी नहीं था। यह आकर्षण जब मैं बड़ा हुआ तो बढ़ा,

पर तब की बात दूसरी है, और वह आकर्षण भी दूसरे रूप में हुआ। शुरू-शुरू में तो हवेली के बाहर रहना, पिताजी के साथ बैठना, दीवानजी की गोद में बैठकर पुराने किस्से-कहानियाँ सुनना, मौलवी साहब की दाढ़ी से खेलना, असामियों और मुजरिमों को सजा पाते हुए देखना, इसी में मुझे लुत्फ आता था।

जब मैं सात-आठ वर्ष का हो गया, तबतक और काम में मेरी दिलचस्पी बढ़ गयी। असामियों और मुजरिमों को कोड़े से पीटे जाते देखकर मेरे मन में भी लालसा होती थी कि मैं भी लोगों को कोड़ों से पीटूँ और इसके लिए जब पिताजी और दीवानजी बैठक खाने में नहीं होते तब मैं बड़े अहाते में चला जाता। मेरी ख्वाहिश से दो-एक प्यादे परिचित थे और मेरी सहमति पर नान्ह कौमों के दस-दस-बारह, बारह वर्ष के लौंडों को पकड़ लाते, जिन्हें मैं कभी बेंत से, कभी कोड़े से दो-दो चार-चार हाथ लगा देता और फिर उन्हें एक-एक, दो-दो पैसे बाँट देता।

पिताजी की शान निराली थी

रामलीला और रासलीला मंडलियाँ भी साल में दो बार हमारे यहाँ आ जाती थीं। रासलीला वाले तो साल में एक बार ही आते थे। मथुरा की तरफ की वह मंडली थी। दस-पाँच दिनों तक वह हमारे यहाँ टिकती थी और रात में रासलीला करती थी। पिताजी और दीवानजी के बैठने के लिए दो-तीन तख्तपोश बिछा कर मोटे-मोटे गद्दे तकिये लगाये जाते थे। उन्हीं के साथ मैं भी बैठता था। किन्तु मैं अक्सर दीवानजी की गोद में बैठता। पिताजी से मुझे हर वक्त एक अव्यक्त आशंका बनी रहती थी। रासलीला के सब दृश्य उन्हें पसन्द नहीं थे। वे विशेष कर उन्हीं दृश्यों को पसन्द करते थे, जिनमें कृष्ण गोपियों के बीच हँसी

मज़ाक करते थे, उन्हें मनाते-रिझाते थे, उनके पाँव पलोटते थे और गोपियाँ मान किये बैठी रहती थीं।

हम लोगों के सिवा अन्य लोग जमीन पर बैठते थे। कुछ ऊँची जाति के लोगों के लिए दरी बिछा दी जाती थी। और कौमों के लोग कमर में एक लंगोटी पहने नंगे-उघारे बदन जमीन पर बैठते थे। स्त्रियों के देखने का कोई प्रबन्ध नहीं था। हाँ, हमारे घर की स्त्रियों और दीवानजी के घर की स्त्रियों वगैरह के लिए पर्दा लगा कर जगह बना दी जाती थी।

रामलीला वाले साल में दो-दो बार आते थे। पहले एक ही मंडली वाले आते थे। बाद में एक और मंडली वाले आने लगे। इन दोनों मंडलियों में बड़ी लाग-डाँट रहती थी। दोनों ही पिताजी को प्रसन्न करके अधिक से अधिक इनाम पाने के फेर में रहते थे। पहले वाली मंडली अपने साज-सामान में कुछ कमजोर पड़ती थी। उसमें पार्ट करने वाले भी कुछ ख़ास अच्छा पार्ट नहीं कर पाते थे। उनके संवाद भी रूखे किस्म के होते थे। पर जब तक वह अकेले ही आते थे, तब तक लाग-डाँट की कोई बात नहीं थी, किन्तु जब दूसरी मंडली भी आने लगी तो पहले वाले की ओर से पिताजी कुछ विरक्त-से रहने लगे। दूसरी मंडली का साज-सामान, संवाद, वेशभूषा, सभी कुछ चुस्त-दुरुस्त और भड़कीला था। पहली मंडलीवाले ने देखा कि एक दरबार उसके हाथ से निकला जा रहा है, साल की सौ-पचास रुपये बँधी-बँधायी आमदनी से उसे हाथ धोना पड़ेगा तो उसने अपनी मंडली की निपुणता पर भरोसा न करके दूसरा ही हथकंडा चलाया। पिताजी के स्वभाव से वह परिचित था। पिताजी क्या, ऐसे ही बड़े जमीदार-रईसों के यहाँ से ही तो उसकी जीविका चलती थी। सत्तर घाट का पानी वह पिये हुए था। जमीदारों-रईसों को किस तरह खुश किया जाता है, वह अच्छी तरह जानता था।

दूसरी बार जब वह हमारे यहाँ आया तो अपनी मंडली के साथ साथ अपने परिवार को भी लेता आया। परिवार के नाम पर बस उसकी स्त्री ही साथ थी। बाद में मुझे पता चला कि वह उसकी अपनी स्त्री नहीं थी; वैसे ही शहर में किसी गौनहर से उसका सम्बन्ध था, उसे ही लेता आया था। गौनहर भी राज़ी हो गयी थी। शायद उसने अपने मन में सोचा हो, इस रामलीला-मंडली के मालिक की रखेल बन कर रहने से अच्छा है कि किसी बड़े आदमी को अपने वश में कर लिया जाय। बस इसी आकर्षण से वह चली आयी थी। पर वह रामलीला मंडली के मालिक की विवाहित पत्नी के रूप में रहती थी। पिताजी ने रामलीला मंडली के अन्य कार्य-कर्ताओं को अलग ठहराया और उन दोनों के ठहरने के लिए अलग प्रबन्ध किया। जैसा कि पिताजी का स्वभाव था वे उसकी ओर आकर्षित हो गये, किन्तु उस गौनहर की मंशा पूरी नहीं हुई। पिताजी का यह स्वभाव ही नहीं था कि किसी एक को सदा के लिए अपने गले में लटका लिया जाय! वैसे भी कोई समझदार आदमी ऐसी गलती नहीं कर सकता। एक ब्याही पत्नी ही क्या कम जवाल होती है कि दस-पाँच स्त्रियों को ब्याह के नाम पर हर वक्त सर पर लादे घूमा जाय, उनके नाज़-नखरे सहे जायँ। मैं खुद काफी अनुभव के साथ इस बात को कह रहा हूँ। मेरी अपनी इस साठ वर्ष की जिन्दगी में क्या कम औरतें गुजरीं! भगवान् झूठ न बुलाये तो सौ के ऊपर ही होंगी। पर बीरू की माँ का दर्जा किसी को नहीं मिला। शुरू-शुरू में कालेज के दिनों में मुझसे ऐसी कई गलतियाँ होते-होते बचीं। विवाह के वादे भी उनसे हो चुके थे। किन्तु मैं सदा ही किस्मत का धनी रहा हूँ। फन्दे में नहीं फँसा। नहीं तो जितती स्त्रियाँ मेरे जीवन में आयीं, जिन जिनसे मेरा सम्पर्क रहा अगर हर किसी के साथ मेरा ब्याह हो गया होता तो फिर एक पूरा हरम ही आबाद हो जाता और फिर क्या मैं निश्चिन्तता का जीवन गुज़ार पाया होता? दरअसल, यह

अनुभव मुझे पैत्रिक मिला है। पिताजी की तरह मेरा भी यही विश्वास रहा है कि किसी से खेल खिला लिया, वह अपने किनारे और हम अपने किनारे। गले में ढोल मढ़ने से क्या फायदा।

जब तक मंडलीवाले टिके रहे, पिताजी उस गौनहर से खेलते-खिलाते रहे। इनाम इकराम भी उसे दिया। साल में दो बार आने के लिए निमंत्रण भी दिया पर इससे आगे नहीं।

मंडली वाला तो बस इनता ही चाहता था। वह खुद भी नहीं चाहता था कि उसकी रखेल गौनहर किसी दूसरे के हाथ में चली जाय। इसके सिवा उसे इस बात का भी अंदेशा था कि अगर वह गौनहर जमींदार साहब के यहाँ बैठ गयी तो फिर जमींदार साहब का उसकी मंडली के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जायेगा।

इस गौनहर को साथ लाने का उसे सुफल मिला। पिताजी ने इस बार उसे इनाम में पहले से ज्यादा रकम दी। मंडली को पोशाक बनवा दी। दीवानजी के जरिये असामियों को सख्त ताकीद कर दी कि अब की बार चढ़ावे में किसी तरह की कमी न करें।

मुझे याद है, जब रामलीला मंडली का चढ़ाव आ गया तब पिताजी के पास शिकायत आयी थी कि पड़ोस के गाँव के लछिमी ठाकुर ने चढ़ावे में कुछ नहीं दिया था। बात यह कि जमींदारों के गाँवों को पिताजी ने बाँट डाला था कि वह किस-किस काम में भेंट देंगे। नाच-तमाशे, कथा-वार्त्ता, रामलीला-रासलीला आदि जब होती थी तब बारी-बारी से केवल एक ही गाँव के लोगों का चढ़ावा चढ़ाया जाता था। शादी-ब्याह, मरण करण, अफसरों की आमद, हाथी-मोटर की खरीद अथवा ऐसे किसी बड़े काम पर सारी जमींदारी पर टैक्स बैठा दिया जाता था, पर छोटे-मोटे कामों के लिए केवल एक दो गाँव ही काफी समझे जाते रहे है। बात भी ठीक है। बड़े जमीदार-रईस के यहाँ हर वक्त ऐसा कोई न कोई पहुँचा ही रहता है। कभी रासलीला-रामलीला

वाले, कभी भाँड़, कभी नौटंकी वाले, कभी गौनहरों का दल, कभी कथा-पुराण कहने वाले, कभी जादू-तमाशा दिखाने वाले, इस तरह साल में बारहों महीने कोई न कोई पहुँचा ही रहता है। अगर अपने पास से दिया जाय तब तो कारूँ का खजाना भी खतम हो जाय। इसलिए जमींदारी के गाँवों पर ही बोझ डाला जाता है। और अब जमींदारियों के खत्म हो जाने पर चाहे कोई कुछ भी क्यों न कहे, उस समय तो सभी इस बात को आवश्यक समझते थे। और मेरा अपना ख्याल है कि संस्कृति के विकास में, उसके पालन-पोषण में हम जमींदारों, राजा-रईसों ने इस तरह हाथ न बँटाया होता तो आज कला और संस्कृति का नाम भी नहीं सुनायी पड़ता। हिन्दुस्तान ही क्या, दुनिया के सभी देशों में हमारे वर्ग ने ही सभ्यता और संकृति को पोषण दिया है उसे आगे बढ़ाया है। और अब किसानों-मजदूरों, जाहिल-जपाटों के हाथ में संस्कृति का दम घुट रहा है। खैर !

पिताजी के पास जब इस बात की शिकायत पहुँची कि लछिमी ठाकुर ने रामलीला की समाप्ति पर चढ़ावे में कुछ भी नहीं दिया है तो उन्हें क्रोध आ जाना लाजिमी ही था। मैं इस बात को मानता हूँ कि अगर उनके पास कुछ नहीं था तो किसी से ले-देकर काम निकाल लेना चाहिये था, नहीं तो दरबार में आकर पिताजी से ही रोया-गिड़गिड़ाया होता, पिताजी उसका चढ़ावा या तो माफ कर दिये होते या उसे कुछ उधार ही दे दिये होते, पर इस तरह चुपचाप बैठ जाना हुक्म-अदूली थी। और अगर जमींदारी आज्ञाओं का पालन न कराया जाता तो इतने दिनों तक जमींदारी टिकी ही न होती। पिताजी ने उसे पकड़ मँगवाया। आदमी था तो बुड्ढा, पर एक ही बहानेबाज! लगा रोने-गिड़गिड़ाने— "सरकार! घर में उपवास हो रहे हैं। लल्लू की माई मानी पड़ी हुई है। आज चार दिन हो गये, जो भस्माभूत जर चढ़ा सो आज तक नहीं उतरा। बैद्य जी ने दो आने की दवा बतायी है, उसे खरीदने के लिए

तो पास में पैसे थे ही नहीं, चढ़ावा कहाँ से चढ़ाते ? वैसे अपनी श्रद्धा कम नहीं रही है । पर साल जब यही मंडली आयी थी तब बँधा रुपया मैंने चढ़ाया था । सरकार तो सब जानते हैं ।"

इसी तरह की बातें वह करने लगा । पर जो खानदानी जमींदार हैं, वे इन बातों को जानते हैं कि इसमें कितना तथ्य है । किसानों-मजदूरों की तो सदा से ही रोने की आदत रही है । पिता जी ने बलदेव को बुलाकर अपने सामने ही उसे जूतों से पीटने का हुक्म दिया । उसकी पीठ पर जूते पड़ने लगे । उसके बूढ़े पोपले मुँह से ओं-ओं की आवाज निकलती थी, उसे ठीक से रोना-चिल्लाना भी नहीं आता था । उसकी उस समय की सूरत से मुझे बड़ी हँसी आयी ।

पर दीवानजी को उस पर दया आ गयी । जब उस पर पचीस-पचास जूते पड़ गये, तो पिताजी का भी क्रोध कुछ शान्त हो गया । किन्तु उन्हें लगा—सजा में कुछ कमी रह गयी है । शायद वह और भी कुछ हुक्म देते, किन्तु तबतक दीवानजी ने एक कारिन्दे से कहा—"इसके घर से बर्तन-भाँड़े लेकर बनिये के यहाँ बेच दो और वह मंडली वालों को चढ़ावे के रूप में दे दो ।"

पिताजी कुछ बोले नहीं । तम्बाकू का कश खींचने लगे । पर दीवानजी का यह हुक्म मुझे अच्छा नहीं लगा । मैंने चुपके से उनसे कहा—"बलदेव से कह कर उस बूढ़े से थोड़ा और ओं-ओं करवाइये, देखने में मुझे बड़ा अच्छा लगता है ।"

यद्यपि मैंने धीरे से यह बात दीवानजी से कही थी, पर पिताजी ने सुन लिया । कहा तो उन्होंने कुछ नहीं, पर आँख तरेर कर मेरी ओर देखा । मैं सहम गया और भय से दीवानजी की गोद में मुँह छिपा लिया । फिर धीरे से वहाँ से खिसक गया ।

महाभारत और भागवत की कथा बाँचने वाले पण्डित भी आते रहते थे । श्रोता-मंडली श्रद्धा-भक्ति से कथा सुनती और कथा की समाप्ति

पर भेंट चढ़ाती। जमींदारी की ओर से कभी ग्यारह और कभी इक्कीस रुपये भेंट किये जाते। पण्डितजी को दोनों जून इच्छा-भोजन कराया जाता। अधिकांश कथा-वाचकों का डील-डौल, रहन-सहन प्रायः एक सा ही रहा है। पिताजी के समय में और मेरे अपने समय में भी सैकड़ों कथावाचक आये—थुलथुल शरीर, बेढंगे बढ़े पेट पर जनेऊ, सिर पर गाखुरी चुटिया, ऐंठ कर गाँठ दी हुई, भोजन करने बैठते थे तब जैसे न हाथ थकता हो और न मुँह। एक बार एक कथा वाचक महाराज तो ऐसे आये जो भोजन करने के पश्चात् पक्की तौल का सेर भर लड्डू उड़ा गये थे और पेटपर हाथ फेरते हुए बोले थे—"सरकार, जन्म-जन्मान्तर की साधना के बाद तो यह तप सधता है।"

एक और कथावाचक की स्मृति मुझे ताजा है। भोजन कर चुकते थे तब उनसे चौके पर से उठा नहीं जाता था। पालथी मारे, बैठे-बैठे पेट पर हाथ फेरते जाते थे। तब उनके दो चेले उनके दोनों पँखुरों में हाथ डाल कर उन्हें उठाते थे, तब कहीं उठ पाते थे। उनके शरीर पर बुढ़ापे का असर हो चुका था। मेरा ख्याल है, भोजन के बोझ को उनका वृद्ध शरीर नहीं सम्हाल पाता था। पर जब वे खाने बैठते थे तब उन्हें और किसी बात की सुधि ही नहीं रहती थी।

पिताजी को इन कथा-वार्ताओं में कोई दिलचस्पी नहीं रहती थी। किन्तु इसे भी वे जमींदारी की एक शान मानते थे, इसी से निभाते जाते थे।

होली के अवसर पर बनारस से कई रंडियाँ आकर जमींदारी की अतिथि बनकर टिक जाती थीं। कोई बँगले में ठहरती थी, कोई मेहमानखाने में, कोई डेरा-तम्बू डालकर अलग ठहरती थीं। पिताजी खुद इनके आराम की फिक्र करते। इसमें वे जरा भी ढिलाई बर्दाश्त नहीं करते थे। बाहर से आयी हुई बाइयों के दिमाग भी आसमान पर रहते थे। हर वक्त किसी न किसी चीज की फरमाइश लगी रहती थी। हर

वक्त दो-चार कारिन्दे, मुन्शी और प्यादे उनकी देखभाल के लिए हाजिर रहते। सौ-पचास बेगार वाले उनकी खिदमत के लिए तैनात रहते थे।

ये रण्डियाँ कभी-कभी तो महीने-महीने भर तक डेरा डाले रहतीं। रोज नाच रंग। पिताजी सब कुछ भूल कर उनमें खोये रहते। होली के दिन खास प्रोग्राम होता था। पिताजी वैसे भी होली ठाट-बाट से मनाते थे। जमींदारी के बड़े-बड़े काश्तकार, असामी सभी हाजिर रहते थे। अबीर-गुलाल से हवा जैसे गुलाबी हो जाती थी। उस दिन पिताजी छोटे-बड़े का भेद मिटा देते थे। छोटे-बड़े सभी काश्तकार पिताजी को अबीर का टीका लगाते थे। अलबत्ता इस बात का ख्याल रखा जाता था कि बड़ी जातियों के ही लोग पिताजी को टीका लगायें। छोटी कौम के लोगों का भी काफी जमघट होता था। गुड़ के शरबत में भाँग मिला कर उन्हें पिलायी जाती थी। जिन लोगों को खाँड़ का शरबत कभी साल में बड़े बड़ों के यहाँ शादी-ब्याह के मौके पर नसीब होता था, वे इस अवसर पर डटकर पीते थे। तब के लोटे भी आज के लोटे से दूने-ड्योढ़े होते थे कि डेढ़-दो सेर पानी उसमें आसानी से आ जाय और पीनेवाले उस शरबत को दो-दो तीन-तीन लोटे तक चढ़ा जाते थे। उस दिन छूट रहती थी।

इसके बाद पिताजी अपने दीवानखाने में बैठ जाते थे। बारी-बारी से आयी हुई सभी रंडियाँ सामने आती थीं। पिताजी के माथे पर अबीर का टीका लगाती थीं और पिताजी उनके मुँह और गालों पर अबीर और गुलाल रगड़कर मल देते थे। पिताजी पर उस समय एक नशा-सा छाया रहता। कभी-कभी तो जब पिताजी गुलाल की मुट्ठी रगड़ कर मलते तब किसी-किसी रंडी के मुँह से हलकी-सी चीख निकल जाती थी।

इसके बाद रंग का नम्बर आता था। रंडियाँ तो पिताजी पर एक-

एक पिचकारी चला देती थीं पर पिताजी रंग की पिचकारी ताक-ताक कर मारते थे। कपड़े जब तर हो जाते थे तब वे बदल लेती थीं। महीन कपड़े की साड़ी और चोली पर जहाँ पिचकारी पड़ती, अंग-प्रत्यंग उभड़ कर सामने आ जाते थे।

रंग का एक बड़ा हौदा भरा रहता था। रँगी और भींगी साड़ी उतार कर रंडियाँ दूसरी महीन साड़ी और चोली पहन लेतीं। पिताजी एक-एक को अपने हाथ से गोद में उठाकर रंग के हौदे में डुबकी लगवा देते। साड़ी और चोली उनके बदन पर चिपक जाती, एक झीना-सा आवरण भर रह जाता, नहीं तो सारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग साफ झलकने लगता!

होली के दिन जनानखाने में भी रण्डियों का नाच होता। हमारे घर की सब स्त्रियाँ तथा दीवानजी के घर की तथा और भी कुछ बड़े घरानों की औरतें उस नाच को देखती थीं। रण्डियाँ उनसे भी काफी इनाम-इकराम पा लेतीं।

पिताजी के यहाँ होली पर आने वाली रण्डियों में एक की याद मुझे ताजा है। उसकी याद का कारण भी है। उसका नाम रुकमन बाई था। गोरा रङ्ग, बड़ी-बड़ी आँखें, हर वक्त उन आँखों में जैसे एक मादकता छायी हो। पिताजी ने उसकी नथ उतारी थी बड़ी धूमधाम से, हजारों रुपये उसमें खर्च हुए थे। उसकी चाची को एक हजार नकद पिताजी ने दिये थे। गहने-कपड़े अलग।

नथ उतारने का संस्कार रण्डियों लिए एक तरह का विवाह ही है। इसके पहले तक रण्डियाँ केवल गाती रहती हैं, किसी की रखैल के रूप में नहीं रह सकतीं। आम तौर पर उनके यौवन प्राप्त करने पर किसी रईस-जमींदार, सेठ-महाजन से उनकी खालाएँ सौदा करती हैं। जो जितना ही अधिक दाम देता है, वही नथ उतारने का हकदार होता है। नथ उतारना भी एक तरह की जमींदारी शान समझी जाती रही है। पर

बाद में मुझे इसका अनुभव हुआ कि रण्डियों की खालाएँ धोखा देकर एक ही रण्डी की कई बार नथ उतरवाती हैं। खुद मैं भी इसमें कई बार धोखा खा चुका हूँ।

जब तक ये रण्डियाँ रहतीं, पिता जी सब कुछ भूलकर उन्हीं में रमे रहते।

रोब हो तो ऐसा

दशहरे का त्यौहार तो अब भी मेरे यहाँ मनाया जाता है। यह तो अब एक परम्परागत हो गया है, किन्तु जिस ठाट-बाट और उत्सव से विजयादशमी का त्यौहार हमारे पिताजी मनाते थे, अब वैसा कहाँ! जब तक जमींदारी थी, तब तक तो मैं इसे कुछ हद तक निबाहे जा रहा था। सगुन कराई के रूप में उस दिन एक खासी लम्बी रकम वसूल हो जाती थी, पर अब तो केवल ढोल पीटना भर रह गया है। बीरू ने कई बार मुझे सुझाव भी दिया कि अब इस झमेले को बन्द कर देना ही ठीक होगा।

विजयादशमी का त्यौहार मनाने के लिए महीना भर पहले से ही हमारे यहाँ तैयारियाँ होने लगती थीं। रामलीला की मंडलियाँ अपना खेल शुरू कर देती थीं। जमींदारी में जितने गाँव थे, वहाँ के मुखियों को बुला कर आदेश दे दिया जाता था कि तुम्हारे यहाँ से इतने बेगार रोज आने चाहिये। इस काम में ढिलाई होने पर मुखिया और पूरे गाँव को दण्ड भोगना पड़ता था।

गाँव के पूरब वाले बगीचे के सामने जो बड़ा मैदान है, उसकी कायापलट हो जाती थी। घास-फूस छीलकर साफ की जाती थी। जमीन समतल की जाती थी। रामलीला के लिए मंच तैयार किया जाता था।

दशहरे के दिन पिताजी पुरोहित द्वारा निर्धारित साइत पर बड़े ठाट-

बाट से अपने बड़े बैठकखाने में आ जाते थे। दीवान साहब अपने पद के अनुरूप पोशाक पहनते थे। कारिन्दे, मुंशी, प्यादे, नौकर-चाकर सभी को उस दिन नयी पोशाक मिलती थी।

शुभ लग्न देखकर लगान वसूली का सगुन किया जाता था। जमींदारी के सभी बड़े-छोटे काश्तकार-किसान नजर के रूप में रुपये भेंट करते थे। उसके बाद पिताजी को बड़े अदब से सलाम करते थे। दीवानजी को जुहार बजाते थे। कुछ बड़ा होने पर जब मैं भी पिताजी के साथ बैठने लगा तो मुझे भी सलामी मिलने लगी। नजर में जो रुपये भेंट आते थे, उन्हें एक मुन्शी बैठा-बैठा कागज पर लिखता जाता था। बाद में इस लिस्ट को पिताजी और दीवानजी बड़ी गौर से देखते थे। अगर कोई काश्तकार या किसान भेंट कम चढ़ाता या नजर न देता तो उसकी शामत ही आ जाती थी। बात भी ठीक थी। वह ऐसा मौका था कि लगान वसूली का शुभ मुहूर्त होता। अगर सगुन के दिन ही कोई आनाकानी करे, बदमिजाजी से पेश आये तो फिर साल भर तक इसी तरह री-री करना पड़ता।

कोई न कोई सरकारी अफसर हमारे यहाँ टिका ही रहता था। खास कर जाड़े के मौसम में कभी जिले के कलक्टर, कभी पुलिस कप्तान, कभी डिप्टी कलक्टर, कभी कोई और ही। पिताजी उनकी सुख सुविधा की निगरानी खुद करते। हमारे यहाँ के गंगा की कछार के पलाश वन में तब कभी-कभी चीते और तेंदुए भी मिल जाते थे। बनैले सुअरों की तो कभी कमी नहीं रही। वे तो अब भी मिल जाते हैं। हरिणों और नील गायों के झुण्ड के झुण्ड फिरते थे। कभी खाली हाथ लौटना नहीं पड़ता था। हाँका करने के लिये गाँवों के छोटी कौमों के लोग पकड़ लिये जाते थे। इन अधिकारियों के साथ अहलकारों की एक खासी फौज सी रहती थी। खर्चा भी काफी बैठता था। पर पिताजी इस खर्च और परेशानी को बड़ी खुशी से बर्दाश्त करते थे। इसके कई कारण थे,

आस-पास के बड़े-बड़े जमींदारों में पिताजी अपनी नाक ऊँची करके बैठ सकते थे। जिक्र छिड़ने पर जमींदारी में आये अँग्रेज अफसरों के साथ की अपनी दोस्ती का बखान करते थे। वही क्या, मैंने भी कुछ कम खर्च इसमें नहीं किया! आन की बात है। इससे पास-पड़ोस के रईसों में मान-सम्मान बढ़ता है, प्रजा पर रोब-दाब कायम रहता है। उन्हें सर उठाने का साहस ही नहीं होता था—इतने बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी जिसके दोस्त-मित्र हों, जिनके साथ उठना-बैठना हो, भाई-चारे का नाता हो, उससे हर तरह से दब कर रहने में ही कल्याण है, इन भावनाओं का प्रजा में प्रचार होता था। जमींदारी तो कोई बनिये की दुकान थी नहीं, वह तो रोब-दाब की चीज थी। प्रजा पर जितना ही रोब-दाब और आतंक कायम रखा जाता, जमींदारी का काम उतनी ही आसानी से चलता था। सफल जमींदार भी वही था जिसके सामने किसी काश्तकार-किसान की जबान तक न हिले। उसकी खाल उधेड़ कर रख दी जाय, पर उफ करने का साहस न हो, नहीं तो जमींदारी न की परचून की दुकान की जिसमें हर लल्लू-बुद्धू को बाबू-भैया कहना पड़े। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे खानदान में जब तक जमींदारी रही, ठाट के साथ ही चली। अब भी लोगों में शुहरत है कि राजा रिपुमर्दन के पेशाब से चिराग चलता था।

शादी-ब्याह अथवा कार-परोजन में सारी रैयत का हम लोगों की हर तरह की मदद करना फर्ज था। 'मदद' शब्द तो गलत अर्थ में मैं इस्तेमाल कर रहा हूँ। असल बात यह थी कि मदद करने के लिए वे बाध्य समझे जाते थे। उनका यह फ़र्ज था और हम लोगों का यह अधिकार था कि उनसे अधिक से अधिक सहूलियत प्राप्त करें।

पिताजी अकसर हरिहर क्षेत्र के मेले में जाते थे और एक दो घोड़े और एक हाथी खरीदते थे। पिछले साल के घोड़ों और हाथियों में से कुछ निकाल दिये जाते थे। हर वक्त अस्तबल में अच्छी नस्ल के घोड़े

बँधे रहते थे। हरिहर क्षेत्र का मेला प्रारम्भ होने के पहले ही जमींदारी के हर काश्तकार पर हल पीछे टैक्स लगा दिया जाता था। यह टैक्स हथियावन कहा जाता था। पिताजी के समय में मोटरें हमारे यहाँ थीं नहीं। मैंने अपने जमाने से हर वक्त तीन-तीन मोटरें रखीं। एक बार सेकेन्ड हैन्ड रोल्सराइस भी पैंतीस हजार में खरीदी थी। हथियावन को मैंने बन्द कर दिया था। यह टैक्स मैंने हल पीछे एक रुपये से लेकर तीन रुपये तक रखा था। बनियाँ-दूकानदारों से उनकी बिसात के अनुसार पाँच रुपये वसूल किये जाते थे। इस तरह हाथी हो अथवा मोटर, काम आसानी से चल जाता था। वैसे जब पहली बार मैंने हल पीछे तीन रुपये मोटरावन का बैठाया था तब कुछ सरकश काश्तकारों ने चिल्ल-पों मचाया था। पर ऐसे सरकश और गुश्ताख लोगों को दबाकर रखने में मुझे मजा आता था। उनका सर कुचल देने में मैंने कभी आना-कानी नहीं की।

शादी-ब्याह के नाम पर पिताजी के बाद मेरी ही शादी हुई थी। बहनें हमारे एक भी न थीं। न कोई हमारी फूआ थी। हाँ, मेरी दो लड़कियाँ रहीं जिनकी शादियाँ मैंने कीं। वैसे हमारी तीन बहनें पैदा हुई थीं, पर वे पैदा होते ही स्वर्ग सिधार गयी थीं। यह बात यद्यपि गोपनीय है, फिर भी मैं यह बता देना चाहता हूँ। हमारे पिताजी एक ही शानी थे। वे इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि अपनी मूँछ नीची करें, किसी के पाँव पखारें और उनके वंश का कोई साला-ससुर कहलाये। इसलिए लड़कियों के पैदा होते ही उन्हें अफीम चटा दी जाती थीं। यह बात अत्यन्त गोपनीय रखी जाती थी। माताजी बेटी के नाम पर तरसती रह गयीं। उन्हें बड़ी साध थी कि उनके कोई बेटी रही होती, उसका ब्याह रचातीं, दामाद आता। पर पिताजी के उग्र स्वभाव के आगे उन्हें कुछ भी कहने का साहस नहीं हो पाता था। जब मेरी बड़ी लड़की का जन्म हुआ था, तब वह ननिहाल में थी। पिताजी की

इच्छा थी कि हमारे यहाँ गाँव में ही उसकी पैदाइश हो, पर माताजी ने जिद्द करके मेरी बहू को उसके नैहर भेजवा दिया था। फलतः पिताजी की शान-रक्षा के नाम पर मेरी दिवंगता बहनों की गति वह न पा सकी। लड़कियों के प्रति माताजी का ऐसा स्नेह था कि जब तक वह जीवित रहीं, हमारी बड़ी लड़की को हर वक्त छाती से लगाये रहीं। मेरी अन्य दोनों छोटी लड़कियाँ माताजी की मृत्यु के बाद पैदा हुई।

जब मैं बारह-तेरह वर्षों का था, मेरी दादी का स्वर्गवास हुआ था। उसका श्राद्ध पिताजी ने बड़ी धूमधाम से किया। उसकी तैयारी में जमींदारी के सारे लोग व्यस्त थे। पोसने के लिये गेहूँ अहीरों, कोइरियों, कुर्मियों आदि के घर भेजवा दिया गया। हर घर पर दस-दस सेर गेहूँ दिया गया था। इनकार करने की किसकी मजाल थी! चमारों, दुसाधों, मुसहरों, भरों, बिनों वगैरह को दूसरे कामों के लिए पकड़ लिया गया था। बढ़ई और लोहार लकड़ी चीरते थे। दान-दक्षिणा देने के लिए चारपाइयाँ वगैरह तैयार करते थे। सामान तौलने के लिए बनियाँ को बुला लिया गया था। दूध देने वाली भैंसों के पीछे दो सेर और दुधारू गायों के पीछे एक सेर घी बाँध दिया गया। वैसे इसका दाम पिताजी ने दिया, पर बाजार भाव से नहीं। तेलियों से तेल और तम्बाकू लिया गया। उन्हें भी कुछ दिया गया, पर वही नाम मात्र के लिए। आखिर किसी भी चीज का पूरा दाम हम लोग अगर बाजार भाव से चुकाते तो फिर इतनी बड़ी जमींदारी किस काम आती!

कोइरियों और कुजड़ों से फल-तरकारियों का बन्दोबस्त किया गया। जो तरकारियाँ जमींदारी में उपलब्ध नहीं थीं, उन्हें बनारस शहर से मँगवाया गया। मुसहरों ने पत्तल और दोनों का ढेर लगा दिया। कुम्हारों ने घड़े, सकोरे, पुरवा आदि मुहय्या किये।

उस क्रिया-कर्म में आस-पास के ढाई-तीन हजार ब्राह्मणों ने जमकर भोजन किया था। कर्मकांडी ब्राह्मण बनारस से आये थे। दान-दक्षिणा

देने में भी पिताजी ने दिल खोल कर काम लिया था। वैसा बड़ा परोजन इधर के देहातों में कभी नहीं हुआ था। लोग आज तक उसकी याद करते हैं।

निमन्त्रित ब्राह्मणों के ब्रह्मभोज के सिवा बड़ी संख्या में करन भी एकत्रित हुए थे। उनकी संख्या हजारों रही होगी! अब भी हमारी तरफ ब्रह्मभोज के अवसर पर बड़ी संख्या में करन जुट जाते हैं। दादी के ब्रह्मभोज में सुनते हैं, दस-दस कोस और कोई-कोई तो पन्द्रह-पन्द्रह कोस से चल कर आये थे। निमन्त्रित ब्राह्मणों को जब इच्छा भोजन करा दिया गया, उन्हें दक्षिणा दे दी गयी, तब महापात्रों को बैठाया गया था। वैसे महापात्रों के लिए लोग चूड़ा दही और खाँड़ का प्रबन्ध करते हैं। अथवा कोई बहुत उदार और सम्पन्न हुआ तो चार-चार, छः-छः पूड़ी भी चूड़ा दही के साथ चलवा दिया। किन्तु हमारे पिताजी ने आदेश दे दिया था कि करनों को भी वही भोजन कराया जाय जो निमन्त्रित ब्राह्मणों को कराया गया है। दस-दस बीस-बीस कोस से चलकर करन भोजन करने के लिये आये थे। इन करनों के बारे में हमारी ओर यह कहावत है कि वे रोज सुबह उठकर किसी बड़े आदमी की मौत की प्रार्थना करते हैं ताकि उसके ब्रह्मभोज में उन्हें जीमने का अवसर प्राप्त हो सके। लोग इन्हें बड़ी हिकारत की नजर से देखते हैं।

अपनी दादी के ब्रह्मभोज के अवसर पर मैंने पहली बार अपनी आँखों से इन करनों को देखा था। जिस समय इनकी पाँत जीमने के लिए बैठी, जैसे एक तरह से कुहराम मच गया। परोसने वाले जैसे दौड़ते फिरते थे, पर हर वक्त पूड़ी, तरकारी, दही, चीनी, मिठाई की पुकार मची रहती थी। पूड़ियों को तोड़ने के बजाय एक ही साथ समूची पूड़ी जैसे वे निगल रहे थे। तरकारियाँ और मिठाइयाँ जैसे मुँह में ठूँस रहे थे। आतुर होकर मरभुखे कुत्ते की तरह वे भोजन पर टूट रहे थे, जैसे जन्म-जन्मान्तर की क्षुधा के बाद आज पहली बार उन्हें अन्न के

दर्शन हुए हों और फिर जाने इस जिन्दगी में कभी अन्न के दर्शन होंगे या नहीं, यह सन्दिग्ध हो ! उनकी जठराग्नि जैसे पृथ्वी से अन्न का दाना-दाना भस्म कर देने के लिए तुल गयी हो ! पिताजी एक तरफ कुर्सी पर बैठे-बैठे यह दृश्य देख रहे थे। और मैं उनके पास खड़ा हक्का-बक्का करनों की अतृप्त क्षुधा की लीला देख रहा था। बीच-बीच में भोजन करते-करते पिताजी की ओर देखकर हाथ उठा कर 'दाता की जय हो, जजमान की जय हो' आदि गगन-भेदी घोष कर रहे थे। वह दृश्य मुझे आज तक नहीं भूलता !

लगभग घन्टे भर तक उनका भोज चलता रहा। पचास-पचास पूड़ियाँ तो सड़ियल जवान तक पेट में डाल चुका था। जो जरा दम-खम वाले थे, उनके लिए तो सौ-सौ पूड़ियों तक कोई बात नहीं थी। कुछ ऐसे भी महारथी थे जो डेढ़ सौ पूड़ियों तक पहुँच गये थे। ठूँस-ठूँस कर खाने के सिवा अपनी धोती के फेटे में, अपनी आस्तीनों में पूड़ियों को छिपाते जा रहे थे, ताकि कुछ घर के लिए भी बचा कर ले जायँ। परोसने वाले कर्मचारी इस पर कुड़बुड़ा रहे थे कि जितना वे खा रहे हैं, वही जरूत से ज्यादा है, नहीं तो कौन ऐसा अपूर्व पदार्थ इच्छा भर इन्हें जिमाता है। चूड़ा दही भर पेट दे दिया जाय यही गनीमत समझनी चाहिए। और यहाँ यह अपूर्व भोजन जीमने के साथ ही अपने फेंटों में अलग से चुरा रहे है ! पत्तल पर पूड़ी पड़ती नहीं कि कुछ उनके पेट के नीचे उतरी और कुछ छिपा लिया !

पिताजी ने इनके लिए भी दो पैसा प्रति महाब्राह्मण दक्षिणा की व्यवस्था कर दी थी। उन महापात्रों की इच्छा-भोजन के पश्चात् वह दो पैसे की दक्षिणा जैसे समस्त पृथ्वी के दान के बाद दक्षिणा के रूप में कुबेर के खजाने का दान हो। उनके जय-जयकार से आसमान जैसे काँप-काँप उठता था।

उस ब्रह्मभोज में इतने आदमियों को भोजन कराया गया था

कि उनकी जूठी पत्तलों का जैसे अटाल लग गया था। उन जूठी पत्तलों पर मुसहरों, भरों, डोमों का हक था। जूठी पत्तलों में से वे बची हुई पूड़ियों के टुकड़े, मिठाइयों के चूरे, तरकारी, अचार, चटनी की जूठन बटोर रहे थे। इस छीना-झपटी में उनमें कुहराम और गाली-गलौज की तो कोई बात ही नहीं थी। उनका शोरगुल जब बहुत बढ़ जाता था तब कोई प्यादा गालियों की बौछार से उन्हें शान्त कर देता था। दो-एक बार तो दो-चार को डंडे भी लगाने पड़े, परन्तु तब भी उनमें शान्ति नहीं आ पाती थी। रह-रह कर जूठनों के बटवारे में वे लड़ पड़ते थे।

जूठन को बटोर कर पत्तलों को वे एक ओर रखते जाते थे। इन पत्तलों को उनकी औरतें और बच्चे जीभ से चाट रहे थे। एक बार जब बहुत शोर-गुल बढ़ गया था तब मैं उधर गया था। इस तरह जूठनों का ढेर और जूठी पत्तलों को चाटना देखकर मुझे बड़ी घृणा मालूम हुई थी। मैंने प्यादों को आदेश दिया कि सभी को मिट्टी में गड़वा दो और इन कमीनों को खदेड़ कर दूर करो। पर वे सभी रोने गिड़गिड़ाने लगे कि सरकार यह हमारा हक है। इस पर आप लात मत मारिये। जिनगी में कभी एक आध बार ही तो ऐसे देव-दुर्लभ पदार्थ हमें परापत होते हैं। इनसे हमारी काया तिरपित हो जाती है। सरकार लोगों के जूठन से ही तो यह देह पली है। इन जूठनों से हमारा लोक-परलोक दोनों सुधरता है।"

प्यादों ने भी निवेदन किया—"सरकार इन कमीनों को जूठनों की बड़ी आस रहती है। जाने दीजिये, जमीन में गाड़ देने से किसी के काम नहीं आयेगा। पर इस तरह ये जूठन बटोर कर ले जायेंगे तो ये सब भी दस-पाँच दिन इस देव-दुर्लभ पदार्थ से अपनी काया तृप्त करेंगे। दूसरे जूठन खाने से इनमें नमकहलाली बढ़ेगी, ऐसा शास्त्र-पुराणों में लिखा है। फिर जब ये जूठन अपनी रिश्तेदारियों में भेजेंगे तब वहाँ वालों को भी मालूम होगा किसी राजा रईस के यहाँ कार-परोजन पड़ा

था, जिसमें ऐसे-ऐसे भोग लोगों को जीमने के लिए मिले थे।''

उनकी बात पर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था। मैंने पूछा—''तो ये जूठन सड़ न जायँगे। आखिर कितने दिनों तक इसे इस रूप में रख सकेंगे!''

मेरी बात सुन कर एक बूढ़ा उनमेंसे मेरे सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और बोला —''सरकार राउर राजा-दई हैं। आप का जूठन हमारे लिए अमिरित बराबर है। हम इन जूठी पूड़ियों को धूप में सुखा डालते हैं। फिर ऊखल में कूट कर उसकी फंकी बना लेते हैं। जतन से रख देते हैं। पर-पाहुन के आने पर उन्हें देते हैं। हिताई-नताई में भेजते हैं। भात को भी सुखा कर रख देते हैं। फिर उसे भी गरम पानी में उबाल कर खाते हैं। इसी बहाने हमारे भाग जाग उठते हैं। अपने पूरब जनम की जब कमाई रहती है तभी यह जूठन नसीब होता है।''

फिर मैं वहाँ से हट गया। उन पत्तलों के ढेर के पास उनका कुह-राम पूर्ववत उठता रहा। कभी-कभी उन जूठनों के ऊपर कुत्ते भी टूट पड़ते थे। तब उन कमीनों और कुत्तों की छीना झपटी और सम्मिलित स्वर से उनका कुहराम और भी बढ़ जाता था।

शिक्षा के नाम पर

आज से पचास साल पहले पढ़े-लिखे लोगोंकी संख्या बहुत कम थी। गाँवों में तो उनकी संख्या अँगुलिओं पर गिनी जा सकती थी। हमारी जमीदारी काफी बड़ी थी, पर मुश्किल से दस-बीस पढ़े-लिखे आदमी मिल सकते थे। अँग्रेजी जानने वाले तो शायद ही कोई एक-आध रहे हों। हमारे दीवान साहब का लड़का जगदेव सहाय दो साल

पहले से अँग्रेजी पढ़ रहा था और उसके साथ ही मैं भी। और अँग्रेजी पढ़नेवाला शायद कोई भी नहीं।

बड़ी जातियों में भी पढ़े-लिखे लोग कम थे। राजपूतों में तो शायद ही कोई ककहरा खतम किये रहा हो। वे अपनी काश्तकारियों में ही मशगूल रहते थे। एक बड़ी संख्या ब्राह्मणों की भी थी, जिनमें कुछ संस्कृत के जानकार थे, पर उनकी जानकारी बरायनाम थी। मुझे अच्छी तरह याद है, एक पण्डित जी रोज हमारे यहाँ पूजा करने आते थे। सूरत शक्ल, वेष-भूषा से पूरे पण्डित थे। बदन पर मिर्जई और किरंची के रंग में रँगी लाल किनारी की घुटने तक धोती, कभी वह धोती हल्दी के हल्के रंग में रँगी रहती थी। सिर अकसर मुड़ाये रहते थे। उस पर गोखुरी चुटिया बँधी रहती थी। उनकी वह चुटिया मेरे लिए मनोरञ्जन का खासा साधन थी। कभी मैं उसमें लम्बा सूत बाँध देता, कभी कोई अंकुश उलझा देता। पण्डित जी यकायक उठते तो एक झटका खा जाते, सिर पीछे झुक जाता और मैं मुसकुराता उनको देखता रह जाता। पण्डितजी मेरी ओर देखकर अपनी चुटिया ठीक करते हुए कहते—"कुँवर साहब, आपके पूर्वज धर्म के बड़े रक्षक थे। अपने पिताजी को ही देखिये। राजा जनक की तरह भोग-योग दोनों में दक्ष हैं। आपको धर्म का मजाक नहीं उड़ाना चाहिये।"

अपनी यह आलोचना सुन कर मेरी भौंहें कुंचित हो जातीं। विरोध प्रकट करने के लिए कहता—"तो आप अपनी चुटिया कटा डालिये। आपकी यह चुटिया ही मुझे निमन्त्रण दे रही है तो मैं क्या करूँ?"

इतना कह कर मैं ऐसा मुँह बनाता कि बेचारे पण्डितजी सहम जाते। डरते, कहीं पिताजी से शिकायत कर दिया तो फिर लेने के देने पड़ जायँगे। पण्डितजी खीस निकाल कर कहते—"कुँवर साहब, हम तो आप के राज में रह रहे हैं। गौ-ब्राह्मण को अभय देना ही क्षत्रियों का धर्म है, यही उनकी परम्परा रही है। जिसमें आपके

पूर्वज राजा रामचन्द्र से लेकर आज तक, आपके पिताजी तक, सब की यही परम्परा रही है।

चन्दन का एक बड़ा टीका पण्डितजी के गोरे चौड़े ललाट पर हर वक्त विराजता रहता। सुर्ती के वे अनन्य प्रेमी थे। पूजा-पाठ से जहाँ उन्हें मौका मिलता, मिर्जई की जेब से सुर्ती निकालते। चुटकी से खोंट-खोंट कर टुकड़े करते। फिर जेबने छोटी-सी चुनौटी निकालते। सुर्ती और चूना मिलाकर मलते और हथेली पर रख कर ऐसा ठोंकते कि उसी झोंक से आस-पास बैठे लोग खाँसने और छींकने लगते। यह बात अवश्य ही वे ध्यान में रखते कि सुर्ती तभी बनाते जब कि अपने समकक्ष अथवा अपने से नीचे के लोगों के साथ होते। अन्यथा हम लोगों के सामने तो वह इस अदब-कायदे से रहते कि तबीयत खुश हो जाती थी, पर उनकी सुर्ती फाँकने की इस आदत से सभी परेशान थे। पण्डितजी एक तरह से राजपुरोहित थे। इसलिए उनके सामने कोई कुछ कह नहीं सकता था। उनको परेशान करने के लिए एक बार कुछ प्यादों मुझे बहकाया—सरकार "पण्डितजी जहाँ-तहाँ बैठे फुफकारने लगते हैं। इस तरह नींद में खर्राटे भरने लगते हैं जैसे कुम्भकर्ण के सगे भाई हों। आप एक काम कीजिये। जब वे खर्राटे भरने लगेगें, सरकार को मैं इत्तला कर दूँगा। बस, उनकी नाक में उस समय एक चुटकी सुर्ती ठूँस दीजिये।"

प्यादों के इस सुझाव पर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। जगदेव की भी मैंने राय ली। सुन कर वह फड़क उठा। थोड़ी आशंका हम लोगों को जरूर थी कि अगर बात पिताजी अथवा दीवानजी तक गयी तब कुछ लताड़ जरूर पड़ेगी। दीवानजी तो खैर हँस कर टाल देंगे। नहीं यह भी हो सकता है कि अगर हम लोगों की बात उन्हें जँच गयी तो वे पण्डितजी को ही डाँट-फटकार बतायेंगे कि अगर बच्चों का मन चल गया, जरा खिलवाड़ कर ही लिया तो कौन सारी धरती उलट गयी। पर

पिताजी की लाल-लाल आँखों के स्मरण से ही हम लोगों को भय मालूम होता था। किन्तु पण्डितजी के सोते समय उनकी नाक में सुर्ती डालने से जो दृश्य उपस्थित होता, उसकी कल्पना से ही हम लोग उछल पड़ते थे। उस आनन्द को प्राप्त करने के लोभ को संवरण करना हम लोगों के वश की बात नहीं थी।

पण्डितजी पूजा-पाठ से निवृत होकर चौकी पर सो गये थे और खर्राटें भर रहे थे। मैं पास में खड़ा था और जगदेव ने एक चुटकी सुर्ती की बुकनी उनकी नाक में छोड़ दी। फिर तो पण्डितजी मेढक की तरह उछल पड़े। छींक पर छींक मारने लगे। छींक के ठहाकों से उनका सारा शरीर गेंद की तरह उछल पड़ता था। सर पर बँधी हुई गोखुरी चुटिया चूहे की तरह उछल-कूद मचा रही थी। हँसी के मारे हम लोगों का पेट फूल रहा था।

पण्डितजी भोजन-शूर थे। बातचीत में भी कुशल, पिताजी किसी की ओर जल्दी आँख उठा कर नहीं देखते थे। आते ही पण्डितजी आशीर्वाद देने के लिये हाथ उठा कर मंत्र पढ़ने लगते थे। किन्तु पिताजी ने हाथ उठाकर उन्हें कभी पालागन-प्रणाम नहीं किया। पंडित जी के आशीर्वाद को सुन कर पहले तो दो-चार मिनट तक उनकी ओर ताकते ही नहीं थे। फिर पूछ बैठते—

"कहो महराज, ठीक तो हो!"

सुनकर पण्डितजी कृतार्थ हो जाते। अपना अहोभाग्य मानते— राजा साहब ने कुशल समाचार तो पूछा।

जमींदारी में यह सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता था कि पिताजी उससे कुशल समाचार पूछें।

पण्डितजी थोड़ी संस्कृत और हिन्दी जानते थे। जमींदारी के अन्य ब्राह्मणों में बहुत कम लोग संस्कृत जानते थे। पर उनमें से कुछ लोग सत्यनारायण की कथा बाँच लेते थे तथा कर्मकांड भी करा लेते थे।

शादी और मरण-करण का कार्य निर्वाह कर लेते थे। पर बहुत कम लोग संस्कृत के श्लोकों को शुद्ध पढ़ पाते थे। एक बार की घटना मुझे याद है। कथा बाँचने वाले पण्डित जी हमारे यहाँ फँसे हुए थे। हमारे गाँव में एक मुंशीजी के यहाँ उस दिन सत्यनारायण का कथा थी। आखिर तक जब कोई कथा वाचक नहीं मिला तो कुछ बुजुर्गों की सलाह पर उन्होंने सत्यनारायण-कथा की पोथी मँगवा कर मण्डप में रखवा दी और उसी के सामने माथा नवा दिया। उपस्थित लोगों ने भी ऐसा ही किया। इस तरह सत्यनारायण की कथा हो गई। फिर प्रसाद वितरण का जो कार्य होता है, हुआ।

जमींदारी में कायस्थों और बनियों के भी कुछ घर थे। बनिये तो अधिकतर अशिक्षित थे या थोड़ा-बहुत मुड़िया अक्षरों का ज्ञान रखते थे। हाँ, कायस्थों में पढ़े लिखे लोगों की संख्या ज्यादा थी। पर उनकी शिक्षा उर्दू में होती थी। उनमें कुछ फारसी के जानकार थे और कुछ हिन्दी भी अच्छी जानते थे। उनमें अच्छे पढ़े-लिखे लोगों की संख्या सैकड़े पाँच-सात रही होगी, नहीं और तो सभी निरक्षर ही थे या अधिक से अधिक चिठ्ठी-पत्री लिखने और रामायण-महाभारत बाँचने तक का ही ज्ञान रखते थे। अलबत्ता हमारे दीवान लाला हरदेव सहाय का खानदान, उस समय की शिक्षा के स्तर को देखते हुए, शिक्षित था। दीवान साहब फारसी उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी का भी ज्ञान रखते थे। उसमें कविता करते थे। लार्ड कर्जन ने जब दिल्ली दरबार किया था, उस अवसर पर उन्होंने दो-चार कवित्त रचे थे। उनका लड़का जगदेव सहाय मिडिल पास कर चुका था। फिर अंग्रेजी पढ़ रहा था। दीवान साहब के बैठक-खाने में फारसी और उर्दू की किताबों के साथ मैंने हिन्दी की किताबें भी देखी थीं। सुखसागर, प्रेमसागर, रामायण, महाभारत आदि पहले पहल मैंने वहीं देखा। रामायण की हस्तलिखित प्रति भी थी। बड़े करीने से हर सफे पर हाशिये में रङ्ग बिरङ्गी तस्वीरें

बनायी गयी थीं और बीच में मोटे मोटे अक्षरों रामयण की चौपइयाँ और दोहे वगैरह लिखे हुए थे। सभी अक्षरों और शब्दों का माथा एक में बँधा हुआ था। जब चौपाई की अर्द्धाली समाप्त हो जाती थी तब एक खड़ी पाई दी गयी थी अक्षर ज्ञान करने पर मैं भटक-भटक कर उसे पढ़ता था। वहीं पर मैंने पद्माकर का लिखा हुआ जगत् विनोद और बिहारी कवि की बिहारी सतसई देखी थी। सूरदास के कुछ पदों का संग्रह कर के दीवान साहब ने मोटे-मोटे अक्षरोंकी एक पोथी तैयार की थी। उसके ऊपर पन्ने-पन्ने पर उन्होंने दस्तख़त कर दी थी। उन्हें दस्तख़त करने का बड़ा शौक था। फारसी और नागरी दोनों हरुफों में वह दस्तख़त करते थे। बाद में उन्होंने रोमन अक्षरों को भी सीख लिया था। जगदेव की, मिडिल की एक किताब 'इतिहास तिमिर नाशक' राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की लिखी हुई थी। उसपर दीवानजी ने अंग्रेजी में बड़े बड़े अक्षरों में दस्तखत किया था। जगदेव उस हस्ताक्षर को अपनी पाठशाला के सहपाठियों को बड़े से गर्व दिखाता था—

"बाबूजी अंग्रेजी के माहिर हैं। ये देखा तुमने, अंग्रेजी में फर्राटे से दस्तख़त करते हैं!

सभी लड़के आश्चर्य-चकित हो जाते थे। धन्य हैं, वह जो अंग्रेजी में फर्राटे से हस्ताक्षर कर सकता है। वे अपने को भी कम सौभाग्यशाली नहीं समझते थे जो अंग्रेजी में किया हुआ हस्ताक्षर देखने का गौरव प्राप्त कर रहे थे। जगदेव से मुझे मालूम हुआ था कि लड़के ही नहीं, स्कूल के अध्यापक तक उस हस्ताक्षर को बड़े गर्व से देखते थे। मेरी जमींदारी में तो एक अपर प्राइमरी चार क्लास तक और एक लोअर प्राइमरी दर्जा दो तक था। मिडिल स्कूल तो तहसील में था, जहाँ दर्जा छः तक पढ़ाई होती थी।

अन्य जातियों के लोगों में किसी को अक्षर-ज्ञान तक नहीं था। जमींदारी में ब्राह्मण, क्षत्री, कायस्थ और बनियों के सिवा सोनार, अहीर,

गड़ेरिया, कोइरी, बिन्द, कहार, तेली, नाई, कुम्हार, बढ़ई, पासी, भर, दुसाध, मुसहर, चमार, ढरकार, और डोम आदि थे। कुछ घर महा-ब्राह्मणों के थे। मुसलमानों के भी दस-पाँच घर रहे होंगे जिनमें कुछ सैयद और पठान थे। इनके सिवा जुलाहे भी एक बड़ी संख्या में थे जो करघे चलाते थे। सूत वे चर्खे के काम में लाते थे। उस समय प्रायः हर घर में चरखा था। घर की बुढ़िया अक्सर चरखा काता करती थीं। सूत को जुलाहे के यहाँ भेज कर कपड़ा बुनवा लिया जाता था। बुनाई में जुलाहों को अनाज दिया जाता था। फसल तैयार होने पर भी वे कुछ पा जाते थे और खलिहान के उठते समय कुछ अनाज देने की रीति थी।

मुसलमान, राजपूत और ब्राह्मण तथा कायस्थ आदि खेती-बारी करते थे। ये सभी काश्तकार थे। इनमें बड़े और कुछ छोटे थे। बड़े चार-चार हल तक चलाते थे। किसी की और भी ज्यादा बिसात थी। उनके बाग-बगीचे भी थे। कुँआ और पोखरी भी थी। खाने-पीने, पहिनने का उन्हें अभाव नहीं हो पाता था। पर इन जातियों के लोगों में भी कुछ ऐसे थे, जिनके पास दो-चार बीघे से ज्यादा जमीन नहीं थी। किसी के पास एक हल या किसी के पास वह भी नहीं। दूसरों की बनी-मजदूरी वे कर नहीं सकते थे। खैर, अब तो जमाने की मार से इन जातियों के लोग भी अपनी जाति-धर्म को छोड़ कर तरह-तरह का काम करने लगे हैं। कुली-कबाड़ी के काम से लेकर ठेला-रिक्शा तक खींचने लगे हैं, पर उस समय चाहे दाने-दाने को मुहताज होकर मर क्यों न जायँ, पर क्या मजाल कि नीच काम की तरफ हाथ भी बढ़ायें। अच्छी जाति के मुसलमानों और कायस्थों की बात तो और भी निराली थी। वैसे पर्दे में तो हर बड़ी जात की औरतें रहती थीं पर मर्द अपनी खेती-बारी में हाथ बँटाते थे। मगर इन दोनों जातियों की औरतों का तो कुछ पूछना ही नहीं। जरा भी हाथ-पैर चला कि घर में लौंड़ी रख

ली गयीं। नौकर-चाकर बढ़ा लिये गये। गहने बनने लगे। ऐश इशरत की ओर झुक गये। मर्द खेती-बारी का काम करने में अपनी जाति की हीनता मानते थे—"कायस्थ का जन्मा-कलम पकड़ेगा कि हल की मूँठ हाथ में थाम्हेगा!" सारा काम-काज नौकरों के भरोसे चलता रहता था। सम्पति तो खास कोई बड़ी उनके पास होती नहीं थी, इसीलिए दस-पांच वर्ष में उनकी किस्मत बदल जाती थी। पुआल की आग की तरह न जलते देर लगती थी और न बुझते। वैसे हल तो कोई भी जनेऊ धारी बड़ी जात का आदमी उस समय अपने हाथ से नहीं जोतता था। जनेऊ पहन कर हल की मूठ थाम्हने से धर्म-च्युंत समझा जाता था। इस सेत को लोग निबाहते थे।

और जातियों के लोगों में बहुत कम लोगों के पास खेत थे। थोड़े-बहुत खेत कोइरियों और अहीरों के पास भी थे। कोइरी अपने खेतों में कोइरार करते थे। मौसम के अनुसार तरकारियाँ उगाते थे। बरसात में खीरा, ककड़ी, रामतरोई, लौकी, कुह्मड़ा, करैला, सेम, अरुई, बंडा, बैंगन, सूरन आदि उपजाते। जाड़े में आलू, बैंगन, लौकी, पालक, सोआ आदि उपजाते और गर्मी में भी कुह्मड़ा, लौकी प्याज आदि पैदा कर लेते। यह कौम उस समय भी मेहनती थी, आज भी, पचास वर्ष बाद मैं देखता हूँ इस काम में उतनी ही दत्त है। जाड़ा हो, गर्मी हो या बरसात हो, अपने काम में लगी रहती है। हम लोग साग-सब्जियाँ इनसे मुफ्त में लेते थे। अब तो ख़ैर बात ही दूसरी है। अब तो जमाना उल्टा हो गया है। दस-पाँच वर्षों में रहा सहा नियम-कायदा भी उठ जायगा। आखिर कांग्रेसवाले कब तक इसकी रक्षा कर सकेंगे!

अहीरों में अकसर पशुपालन होता था। थोड़ी बहुत खेती-पाती ये भी कर लेते थे। पर पशु-पालन का कार्य मुख्य रूप से करने थे। गाय भैंस पालना, दूध दही घी तैयार करना इनका काम था। जमींदारी में इनकी एक बड़ी संख्या रही है। इफ़रात दूध-दही की प्राप्ति होती रहती

थी। हमारे ही यहाँ नहीं, हमारे सभी कर्मचारी अपने ओहदे और पद-मर्यादा के अनुसार ये चीजें प्राप्त कर लेते थे।

गड़ेरिये भी हमारी जमींदारी में काफी थे। भेड़ पालना उनका मुख्य काम था। काश्तकारों के खेतों में भेड़ों को बैठाने से तथा कंबल और भेड़ों की बिक्री से उनका गुजर बसर चलता था। साल में कई भेड़ें इनसे मुफ्त ली जाती थीं। साथ ही कम्बल भी मिलते थे। जमींदारी के अन्य कर्मचारी भी इनसे कुछ न कुछ वसूल करते थे।

अन्य जातियों का गुजर-बसर दूसरों की बन्नी-मजदूरी करके, गाय भैंस चराकर आदि ऐसे ही कामों से चलता था। हाँ, पेशेवर जातियाँ जैसे नाई, धोबी, दरजी, लुहार, कुम्हार, बढ़ई, सोनार आदि अपने पेशों को करते थे और फसल के तैयार होने पर काश्तकारों से इन्हें अनाज मिल जाता था, जिससे इनका गुजर-बसर होता था। पासी ताड़ों और खजूरों पर से ताड़ी उतारते थे। अब तो हमारी तरफ उतने ताड़ और खजूर रह नहीं गये जितने कि मेरे बचपन के समय थे। ताड़-खजूरों पर किस फुर्ती से पासी चढ़ते थे। वह देखते ही बनता था। पैर में ताड़ के पत्तों से बनी एक रस्सी लटका लेते थे, जिसे फन्दा कहते हैं। हाथों से पेड़ को पकड़ कर सरकते सरकते पेड़ की ऊँचाई तक पहुँच जाते। उनकी कमर में हँसिया बँधी होती। कभी कभी मैं उनके चढ़ने-उतरने को देखने के लिए ही किसी पासी को पकड़वा कर बार-बार ताड़ अथवा खजूर पर चढ़वाता उतरवाता। एक बार का ख्याल है, मेरे जी में आया, देखें कितनी बार यह पेड़ पर चढ़-उतर सकता है। मैं घोड़े पर था। दो-चार प्यादे मेरे आस पास खड़े थे। साथ में जगदेव भी एक घोड़े पर था। उसी की सलाह से मैंने यह रोमांचकारी निर्णय किया था। जगदेव की सूझ-बूझ कमाल की होती थी। अक्सर वह ऐसे अनोखे विचार खोज लेता था कि मैं उसकी पीठ ठोंके बिना नहीं रहता था।

हम लोग खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे। पासी जवान था। गहरा

साँवला शरीर। गढ़े हुए लम्बे पतले हाथ पैर, जैसे लोहे की बीम हो। मसें भीग चुकी थीं। दस बार तो वह एक ही दम में जैसे चढ़ गया, बन्दर भी क्या उतनी फुर्ती और सफाई से चढ़ता उतरता। दस-बारह बार वह चढ़ चुका था, हम लोगों की ओर वह देखने लगा। हुकुम की प्रतीक्षा में था कि अब हुक्म हो तो चढ़ना-उतरना बन्द कर दें। पर हम लोग यह देखने पर तुले हुए थे कि देखें यह कितनी बार चढ़ उतर सकता है। बीस, पचीस, चालीस, पचास, साठ, सा, और वह बेदम होकर हाँफने लगा। उसकी छाती धौंकनी की तरह चल रही थी। बड़ी मटर के बराबर पसीने की बूँदें उसके शरीर से लुढ़क रही थीं। उसके काले माथे पर से सफेद सफेद ढुलकती पसीने की बूँदें ऐसी लग रही थीं मानों आबनूस के कुन्दे पर कोई बड़े बड़े मोती लुढ़का रहा हो। उसकी आँखों में एक ललाई छा गयी थी जैसे खून उतर आया हो। हाथों की हथेली और अँगुलियाँ छिल गयी थीं। उनसे जगह-जगह खून चू रहा था। घुटने और ठेहुनें छिल चुके थे उनके ऊपर खून की लाल-लाल बूँदें झाँक रही थी पर उसके शरीर के काले पन पर वे लाल बूँदे भी कुछ कुछ मटमैली सी मालूम होती थीं। हाथ जोड़कर बोला—"सरकार, नहीं चढ़ा-उतरा जाता। जान बख्श दें!"

जगदेव ने गाली देकर कहा—"अबे, चढ़ता है कि खाल खिचवाऊँ!"

एक बार वह फिर चढ़ा। उतरते समय जैसे वह बेकाबू होकर फिसलता आया हो।

तब तक और लोग भी इकट्ठा हो गये थे। दम साधे सन्नाटे में सब खड़े थे। उसके माँ-बाप भी आ गये थे, रो-पीट और चिल्ला रहे थे—

"दोहाई है सरकार, ललुआ की जान बख्श दें। दोहाई सरकार की!"

उन बूढ़े-बूढ़ी की यह चीख-पुकार मुझे बड़ी बेवक्त की मालूम हुई। अब तो सोचता हूँ कि उस समय मुझे ज़रा ग़म से काम लेना चाहिये था। पर उस समय की बात ही और थी। प्यादों को लक्ष्य करके मैंने कहा—"हटाओ इन हरामज़ादों को यहाँ से।"

जगदेव ने उस छोकरे से कहा—"अबे फिर पेड़ पर चढ़ता है कि आऊँ!"

और यह कह कर वह घोड़े पर से छलांग मारकर उतरा और हाथ के कोड़े से सड़ाक-सड़ाक दो हाथ उसे जमा कर घोड़े पर आ बैठा।

पीठ पर कोड़ा पड़ते ही उस छोकरे ने अपनी काँपती बाहों से पेड़ के तने को पकड़ लिया। मगर कम्बख्त की किस्मत ही खोटी थी। आधी दूर ही चढ़ा होगा कि उसका हाथ तने से छूट गया। धड़ाम से जमीन पर आ पड़ा। पड़ते ही उसके मुँह से दो हुल्ला खून निकला और उसकी आँखें पथरा गयीं!

उसकी यह हालत देखकर हम दोनों क्षण भर स्तम्भित रह गये। पर यह कमजोरी पल भर तक ही रही, जैसे सेकेन्ड में ही बिजली कौंध कर ठहर जाती हो। अपनी इस क्षणिक कमजोरी पर हम लोग एक दूसरे की ओर देख कर कुछ शरमाये भी—कहीं हम दोनों में से कोई एक दूसरे को कायर न समझ ले कि खून देखकर सहम गये। फिर हम दोनों एक साथ ही ठठाकर हँस पड़े। मन में हम दोनों के यह बात जरूर थी कि कहीं पिताजी अथवा दीवानजी नाराज न हों। थाने और तहसील का अंदेशा हम लोगों को क्या हो सकता था। ये सभी सरकारी कर्मचारी पिताजी के खिलाफ कैसे जा सकते थे। कितने असामियों को तो पिटवाते-पिटवाते पिताजी ने बेदम कर दिया था। कई तो दो एक दिन बाद ही दम तोड़ बैठे थे, पर इससे क्या? ये सरकारी अधिकारी भी तो अक्सर ऐसा ही करते रहते थे। हम लोगों के मन में उसके मरने से अगर आशंका थी तो केवल पिताजी और दीवानजी की ओर से ही।

पर जगदेव की सलाह से मैंने दीवान साहब को कुछ सुधार कर यह घटना पहले ही बता दी। पिताजी के कान में जब यह बात गयी तो दीवानजी ने उन्हें समझा दिया।

शहर का चस्का लगा

गाँव में अब मेरा रहना कम ही हो पाता था। शहर के स्कूल में मेरा नाम लिखा जा चुका था। मैं और जगदेव दोनों साथ ही रहते थे। शहर में हमारी एक कोठी थी, उसी में हम लोग रहते थे। नौकर-चाकर सभी जमींदारी से आये थे। मेरे लिये पढ़ने का तो केवल नाम भर था। मेरी उम्र अठारह के पार जा चुकी थी। पर मैट्रिक के पार नहीं जा सका था। दो वर्षों से उसी में लुढ़क रहा था। जगदेव अलबत्ता पढ़ने में तेज था और वह एफ़० ए० के दूसरे साल में था।

इस बीच मेरी शादी भी हो चुकी थी। शादी हुए दरअसल चार वर्ष हो चुके थे, पर गौना नहीं हुआ था। दो वर्ष से गौना भी हो चुका था। वास्तव में मेरी पढ़ाई को इस विवाह से भी एक धक्का लगा था। पढ़ने-लिखने में मेरा मन तो वैसे भी नहीं लगता था। मेरे लिए शहर मौज की जगह थी। गाँव में तो क्षेत्र सीमित था, तिस पर पिताजी की खर दृष्टि का हर वक्त भय बना रहता था। वैसे मैं भी पिताजी की ही लाइन पर चल रहा था और यही बात पिताजी को खटक रही थी। अपनी जिन्दगी में उनका न जाने कितनी स्त्रियों से सम्पर्क रहा था और होश संभालते ही मेरे सामने आदर्श के रूप में वही आये। स्त्रियों के प्रति आकर्षण जैसे मेरे घुट्टी में पिलायी गयी थी, बल्कि मैं एक शायर के शब्दों में अपनी अनुभूति व्यक्त कर सकता हूँ—मेरा मिजाज लड़कपन से आशिकाना था!

शहर आने पर उस आग में जैसे घी की आहुति पड़ गयी। जग-

देव दो वर्ष पहले से ही शहर में रह रहा था। इस बीच उसने खुल कर खेला। जब मैं गाँव में रहता था, तब उसने अपने रोमांस की न जाने कितनी रंगीन कहानियाँ मजा ले-लेकर मुझे सुनायी थीं। मैं सुनता था और उसकी किस्मत पर रश्क करता था। मेरे दीवान का बेटा तो इतना ऐश-मौज करे और मैं उस स्वर्गीय आनन्दोपभोग से वंचित रह जाऊँ! शहर में पढ़ने के लिए मेरी ज़िद का एक-मात्र कारण यही था। मिडिल का इम्तहान तो मैंने प्राइवेट गाँव पर रह कर ही ट्यूटरों की सहायता से तहसीली स्कूल से पास कर लिया था। पिताजी की इच्छा आगे पढ़ाने की थी नहीं—राजा रिपुमर्दन के बेटे को पढ़ने लिखने से फायदा! उसे कोई फिरंगी की नौकरी करनी है! जमींदारी वह सँभालने लायक हो जाय; बस राजा-रईसों के बेटों के लिए इससे बढ़कर और क्या शिक्षा हो सकती है। घोड़े पर चढ़ने और बन्दूक का निशाना लगाने में रूपू—मेरा प्यार का नाम—एक ही उस्ताद है! जमींदारी की रोब-दाब रखने की ओर भी उसकी रुचि है। प्रजा और नौकरों-चाकरों से किस तरह पेश आना चाहिये, यह अभी से वह सम- झने लगा है। लायक बाप का लायक बेटा होगा, सिंह के कुल में शेर-बबर हो कर जन्मा है और क्या चाहिये! आदि। इसी तरह की बातें वे करते रहते थे। पर शहर की रङ्गीनियों के बारे में जगदेव से मैं जो कुछ सुनता था, उससे मेरा मन शहर में रहने के लिए आकुल हो रहा था। जगदेव भी हमें उकसावा दे रहा था—

"अमाँ, यहाँ गाँव-देहात में क्या रखा है। फिर यहाँ हर तरह की परेशानी और बन्धन। जरा भूल से भी किसी लड़की की ओर नजर डाली नहीं कि पिताजी और बाबूजी—मेरे पिताजी को वह बाबूजी कहता था—की वक्र दृष्टि जैसे कलेजा बेध कर रख देगी। और वहाँ शहर में खुल कर खेलो। नौकरों-चाकरों की क्या मजाल कि यहाँ आ

कर जरा भी चूँ कर सकें। अगर जरा भी इधर-उधर हों, तो पचीस बहाने हैं—खाल उधेड़ कर रख दो।"

पिताजी को राजी कर लेने में मैं सफल हो गया। वैसे मैं जानता हूँ कि अगर दीवानजी से मैं जिद्द न किये होता तो पिताजी मेरी बात कभी नहीं सुनते। पर दीवानजी जगदेव और मेरी किसी भी बात को नहीं टालते थे। हाँ, पहले समझाते-बुझाते थे। भुलावा देते थे, पर जब मचल कर हम कोई बात कहते थे तो वे राजी हो जाते थे। उनके राजी हो जाने पर पिताजी उनकी बात नहीं टालते थे। दीवानजी पढ़े लिखे व्यक्ति थे। विद्या की ओर उनका अनुराग था। बुढ़ापे में भी उन्होंने अँग्रेजी के अक्षरों को सीखा था। अतएव पिताजी को उन्होंने समझाया कि आज के जमाने में बिना अँग्रेजी पढ़े कोई भी आदमी अपनी शान नहीं निभा सकता है। फलतः पिताजी राजी हो गये।

रुपये-पैसे का भला हम लोगों को क्या अभाव हो सकता था। दिल खोल कर हम खर्च करते थे। हमारी देख-रेख करने और कोठी का प्रबन्ध करने के लिए एक मैनेजर रख दिया गया था। मैनेजर के सिवा दसों नौकर-चाकर थे। जितना रुपया हम चाहते, खर्च कर सकते थे। पढ़ाई का हिसाब-किताब या इस सम्बन्ध का पूरा प्रबन्ध दीवानजी ने अपने हाथ में ले लिया था। मैनेजर को भी हम लोगों ने समझा दिया था कि दीवानजी उदारता से रुपया भिजवाते हैं—कहीं लड़कों को परदेश में किसी तरह का कष्ट न हो जाय! कहीं किसी चीज के लिए उनका दिल टूट न जाय।

यह मैं तब भी समझता था और अब तो खैर कोई बात ही नहीं कि मैनेजर हम लोगों के नाम पर दोनों हाथों से रुपये बटोर रहा था। पर हमारी नजर उधर थी ही नहीं। हमारे कामों की रिपोर्ट वह पिताजी और दीवानजी को न दे, इससे अधिक हम लोग उससे और कुछ भी नहीं चाहते थे।

शराब पीना तो हम लोग पहले ही सीख चुके थे। दरअसल, मेरे लिए जगदेव अगुवा का काम करता था। इस विषय की उसकी जितनी जानकारी थी, उससे उसने मुझे सहर्ष परिचित कराया। इस परिचय कराने में उसे गर्व का अनुभव होता था—कितनी पते की और जानकारी की चीजें मैं तुम्हें बता रहा हूँ। जरा सोच देखो तो!

हम लोगों की तरह कुछ और लड़के भी थे जो राजा-रईसों के बेटे थे। उन्हें भी हमी लोगों की तरह पढ़ने-लिखने की ओर रुचि कम और ऐश-इशरत की ओर ज्यादा झुकाव था। इसका कारण भी था, हम लोगों की श्रेणी में अपने-अपने घरों का प्रायः एक सा ही वातावरण था। शहर में आने पर हम सभी स्वतन्त्र हो गये थे। फलतः ऐसे लड़कों का एक गुट बन गया था। अपने बीच में साधारण विद्यार्थियों का प्रवेश भी हम निषिद्ध समझते थे। और सही बात यह है कि हम लोगों के साथ उठने-बैठने ऐश-मौज करने के लिए, वैसी पोजीशन बनाने में जो खर्च पड़ता था, उसे बर्दाश्त करने में राजा-रईसों के लड़के ही समर्थ थे। ऐरे-गैरे कम्बख्त क्या खाकर राजा-रईसों के लड़कों का साथ निभा पाते!

धीरे-धीरे हम लोग वेश्याओं के कोठों पर भी जाने लगे। वेश्याओं का संसर्ग करने के बारे में तो हम लोगों ने तरह-तरह कहानियाँ सुनी थीं—'अगर किसी को तहजीब सीखनी हो तो इनकी संगत करे। खास कर राजा-रईसों को तो इनका सम्पर्क अवश्य ही करना चाहिये, नहीं तो शिक्षा अधूरी रह जाती है। देवराज इन्द्र का दरबार तो परियों का अखाड़ा ही समझा जाता है। नवाबों और शाहंशाहों, राजा और सम्राटों के दरबार में तो इन वेश्याओं की एक फौज ही-सी रहती आयी है; विजयनगर के राजा कृष्णदेव के पास पन्द्रह हजार औरतें थीं जिनमें पाँच सौ तो लड़ाई तक में साथ जाती थीं। इसी तरह मुगल बादशाहों का उदाहरण हम लोगों के सामने है। लखनऊ के अन्तिम

नवाब वाजिदअली शाह क्या कम रंगीले थे; यही तो नवाबी शान है, आदि बातें हम लोग आपस में करते रहते और हर तरह से यह सिद्ध कर देते थे कि अगर रईस कहलाना है, तहजीब सीखनी है तो हमें इन वेश्याओं की शुहबत अवश्य करनी चाहिये।

वेश्याओं की शुहबत का सबसे बड़ा हिमायती जगदेव था। वह तो उन्हें जैसे पूजता था। मुझे याद है, एक बार उसने कहा कि वेश्याओं की गिनती सतियों में होती है।

उसकी बात सुन कर हम सभी ठठाकर हँस पड़े। एक साथी ने मजाक में कहा—"तब सीता-सावित्री के साथ इन्हें भी दर्जा मिलना चाहिये!" और अनुभवी की मुद्रा बनाकर जगदेव ने कहा था—"सीता-सावित्री की बात तो सब फिजूल है। हाँ, मैं इस बात का कायल जरूर हूँ कि जब तक कोई इनकी शुहबत नहीं करेगा, तब तक राजा-नवाबों की महफिल में बैठने लायक नहीं हो सकता। चाहे कोई और पढ़ाई लिखाई करे या न करे, पर जिन्दगी में भला आदमी कहाना चाहे तो उसे वेश्याओं से तहजीब सीखनी ही पड़ेगी।"

उसका मुँह और भी गम्भीर हो उठा था। उसकी बात काटने का साहस किसी को नहीं हो रहा था। उसी रौ में उसने कहा—"तुम लोगों को जानना चाहिये कि अगर वेश्याएँ ऐसी गुणी न होतीं तो पहले के राजा-रईस, तहजीब सीखने के लिए अपने साहबजादों को वेश्याओं के पास न भेजते। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि पहले के राजा-रईस जितना जरूरी अपने बेटों को मौलवी और पण्डित के पास बैठाना समझते थे, घोड़े की सवारी और निशाना लगाने में, माहिर बनाने में समझते थे, प्रजा और नौकरों-चाकरों के साथ किस तरह पेश आना चाहिये, इसकी शिक्षा की जरूरत महसूस करते थे, उतना ही आवश्यक, बल्कि उससे भी ज्यादा आवश्यक इस बात को समझते थे कि उनके बेटे तवायफों की शुहबत में तहजीब सीखें,

कुछ गुन शऊर सीखें, नहीं तो दस भले आदमियों में अपने कुल खानदान की हँसी उड़ायेंगे।"

हम सभी लोग मन्त्र मुग्ध-से उसकी बातें सुन रहे थे। हम लोग भी इस बात के कायल थे कि अगर दस रईसों में अपनी शुमार करानी हो तो इन तवायफों की संगत से हम दर किनार नहीं हो सकते।

उसी गम्भीर वातावरण में उसने आगे कहा—"जनाब, आप लोग यह न समझियेगा कि शादी-ब्याह कर लेने से ही औरतें सती साध्वी हो जाती हैं। जैसे विवाहित स्त्रियों का एक धर्म है पति के प्रति वफादारी, उसी तरह का तवायफों का भी धर्म है। हाँ, जो तवायफ अपने धर्म का निर्वाह न करे उसे हम गिरी हुई तवायफ कह सकते हैं। मैं खुद जानता हूँ, इसी बनारस शहर में कितनी ही ऐसी वेश्याएँ हैं जो कहने के लिए तो वेश्या हैं, पर उनका सत देखो उनका नियम-धर्म देखो तो बड़ी-बड़ी सतियाँ तक उनके सामने पानी भरें। एक के बारे में तो मैं खुद जानता हूँ, हिन्दुओं को छोड़कर अन्य किसी जाति वालों को वह अपने यहाँ फटकने तक नहीं देती। जो कोई भी चाहे उसके यहाँ जाय, गाना सुन ले, पर यह नहीं कि कोई मुसलमान या इतर हिन्दू उसे अपना अङ्क-शायी बना ले! पहले वह चुटिया देख लेती है तब वह इस तरह का सौदा करती है! एक बार की बात है बताऊँ। लखनऊ के नवाबी खानदान के कोई बिगड़े रईस बनारस पधारे। बात उनके कान तक गयी। उन्होंने अपनी मूछों पर ताव देकर कहा कि अगर मैं उसे अपनी जरखरीद लौंडी न बना लूँ तो मेरी नसोंमें नवाबी खून नहीं। फिर इस मूँछ को मैं औरत की पेशाब से मुड़वा दूँगा।"

और उन्होंने उस पर अपना फन्दा डालना शुरू किया। थैलियों के मुँह खोल दिये और उसके सामने मुहरों की ढेर लगा दी। पर जानते हो क्या जवाब दिया उस नेकबख्त ने? कहा—"नवाब साहब,

इसमें कोई शक नहीं कि बन्दी हुजूर की गुलाम है, पर आखिर मेरा भी तो धर्म है। इन सोने-चाँदी के सिक्कों के आगे अगर मैं अपना धर्म बेच दूँगी तो फिर उस परवरदिगार के सामने मैं क्या मुँह दिखलाऊँगी!''

वातावरण एकदम गम्भीर हो उठा था। उस समय अगर सीता-सावित्री भी हमारे सामने आयी होतीं तो हम लोग उस वेश्या से उन्हें हेच ही समझते।

छुट्टियों में जब हम लोग घर जाते, तब वहाँ का प्रोग्राम ही दूसरा रहता। मैं और जगदेव अक्सर साथ रहते। सबेरे नाश्ता-पानी करके घोड़े पर सवार हो कर और कभी पैदल ही, बन्दूकें लेकर हम शेर-शिकार के लिए निकल जाते। साथ में दो चार शिकारी कुत्ते और दो-एक विश्वस्त प्यादे हम लोग अपने साथ ले लेते। जिस गाँव में से हो कर हम लोग गुजरते, वहाँ के वासिन्दों में एक तरह का कुहराम-सा मच जाता था। वैसे जब भी मैं छुट्टी पर गाँव आता, जमीदारी के गाँवों में चर्चा चल पड़ता कि छोटे सरकार आ गये हैं। इस चर्चा के कई कारण थे। विश्वस्त नौकर-चाकर और प्यादे खुश होते कि अगर छोटे सरकार के मन माफिक कोई तोहफा भेंट कर पाऊँगा तो इनाम इकराम मिलेगा।

जमीदारी के गाँवों में से जब हम गुजरते, बड़े-बूढ़े सभी हाथ बाँध कर खड़े हो जाते। औरतें सहम कर घूँघट निकाले एक ओर हो जातीं, छोटे-छोटे बच्चे घबरा कर या तो चिल्लाने लगते या दूर भाग खड़े होते। कैसे मौज के समय थे वे! मस्त होकर मैं चलता था। साथ में जगदेव ऐसा जिन्दादिल साथी था जिससे किसी बात का दुराव नहीं। सारी प्रजा मेरी मर्जी की मुहताज थी। आह आज वे दिन कहाँ गये! क्या दरअसल कलियुग आ गया? पर अगर कलियुग आया है तो क्या राजा-रईसों के लिए, शरीफों के लिए, बड़ी जातियों के लिए ही? कमीनों

और रजीलों के लिए तो आज जैसे सतयुग आ रहा है। पहले उनकी चुटिया हमारे पैरों के नीचे थी और आज वे सीना तानकर अवहेलना से हमारी ओर देख रहे हैं। कितनी हिकारत और घृणा भरी है उनकी आज की यह नजर हम लोगों के प्रति! और कितना दर्प है उनकी चाल में!

खेत और बगीचों में काम करती हुई स्त्रियों पर हमारी नज़र पड़ती। वे कम्बख़्त सहम-सिकुड़ जातीं! खास कर कमसिन छोकरियों का सहमना-सिकुड़ना मुझे बड़ा भला लगता। दरअसल जो दिल का बादशाह होता है, वह इन भोली अदाओं पर हजार हाँ कुरबान हो जाता है। मेरी क्या हस्ती थी। उस शाहजादा सलीम का दिल भी तो मचल उठा था नूरजहाँ के भोलेपन पर, जब दूसरा कबूतर भी उसने फुर्र से उड़ा दिया था। और न जाने कितनी कमसिन परियों की ऐसी ही भोली आदतों से कितनी बार उसका दिल मसल उठा होगा। वह तो सर्वसमर्थ था, उसे क्या अभाव रहा होगा? पर मेरी जमींदारी में भी एक से एक बढ़ कर नौजवान लड़कियाँ थीं। और मेरा ख्याल है, दिल में रंगीनी चाहिये, फिर तो हर जवान लड़की एक बार नूरजहाँ का पार्ट अदा कर सकती है। उस समय मेरी नज़रों में ऐसी मस्ती समायी रहती थी कि मन कभी तृप्त ही नहीं होता था। कितनी छोकरियों का मैंने उपभोग किया! थीं तो कम्बख्त नान्ह जातियों की, पर सुन्दरता कोई बड़ी जतियों की स्त्रियों की बपौती तो नहीं। और नान्ह कौमों की स्त्रियों के शरीर में जो गठन होती है, अंग-प्रत्यङ्ग ठोस कि क्या पूछेगा, वह पर्दे में बन्द रहनेवाली घरों की स्त्रियों में कहाँ से आ सकता है!

उन देहाती छोकरियों में भी कुछ कितनी गुश्ताख़ होती थीं। कुछ तो धोह-धमकी में आ जाती थीं। इच्छा रहते हुए भी प्रतिरोध नहीं कर पाती थीं। कुछ दो पैसे से लेकर दुअन्नी तक पा जातीं तो जैसे कारूँ

का खज़ाना पा जातीं और उनके साथ मनमानी करो। कुछ हमारे कारिन्दे-प्यादों के भय से मात खा जाती, पर कुछ तो जैसे शैतान की खाला होतीं, 'घोह धमकी का असर नहीं, पैसे का प्रलोभन नहीं, प्यादे कारिन्दों का भय नहीं। पर ऐसों को सिद्ध करने में एक मज़ा आता था। आखिर ताकत की आजमाइश करके जो चीज़ प्राप्त की जाय उसका लुत्फ़ हज़ार गुना बढ़ जाता है। किसी बहाने से उनके बाप भाइयों को पिटवाता और इस तरह कितनी ही छोकरियों को मैंने मात दिया है।

तो भी कुछ ऐसी कम्बख्त रहीं कि उनके सामने मुझे हार माननी पड़ी। पर वह हार इसीलिए माननी पड़ी कि पिताजी जीवित थे। उनका शासन था। नहीं तो अगर जमीदारी मेरे हाथ में आ गयी होती तो क्या मजाल थी कि मेरे हाथ से बच कर निकल जातीं! चमड़ी उधेड़ कर रख देता। एक लड़की की हरकत मुझे अब भी याद है। क्या गज़ब की थी वह! जात की चमाइन, पर रङ्ग, रूप, चेहरा-मोहरा सब बड़ी जातियों का-सा। और दरअसल वह थी भी किसी बड़ी जात की औलाद। —चमाइन के पेट से पैदा होने से क्या होता है! उसकी माँ वैसी ही गज़ब की ख़ूबसूरत थी और कितनी ही बड़ी जाति के लोगों से उसका लगाव था। पिताजी ने भी उसे एक आध बार अपनी सेवा में लिया था। हाँ, तो उसकी बेटी भी वैसी ही गज़ब की खूबसूरत थी। मेरी उसपर नज़र पड़ी तो वह यौवन में प्रवेश कर चुकी थी। प्यादों ने उसके बारे में तरह-तरह की बातें बतायीं—'सरकार' वह किसी तरह भी राजी नहीं होती। रुपये का लोभ दिया, उसके घर वालों को बरबाद कर देने की धमकी दी, डराया-धमकाया, पर वह टस से मस नहीं होती है।"

मैंने कहा—"तब मैंने उसे जरूरत मात दूँगा। आख़िर जमींदारी में ही तो रहेगी छोटी कौम की होकर हमारी बात नहीं मानेगी?"

त्याग कर सदियों की शोषित-पराजित वह जनता उठ खड़ी हुई है और अपने तमाम बन्धनों को तोड़ती हुई आगे बढ़ रही है। उनकी यह चेतना ही हमारी मौत का जैसे सूचक हो। आज से पचास वर्ष पूर्व का वह स्वर्ण युग, जाने किस महाकाल के महागर्त समाता जा रहा है।

यद्यपि मेरी पढ़ाई का क्रम चल रहा था किन्तु वह तो नाम मात्र को ही थी। वास्तव में मैं शहर में नित नवीन आनन्द की खोज और उसके उपभोग के लिए ही टिका हुआ था। पढ़ाई तो शहर में रहने का एक बहाना मात्र थी।

पिताजी की उम्र यद्यपि ज्यादा नहीं थी, किन्तु इधर साल-दो साल से उनकी तबियत ठीक नहीं चल रही थी। इस बीच दीवानजी का भी स्वर्गवास हो चुका था। उनकी जगह पर उनके छोटे भाई कुलदेव सहाय जमीदारी के दीवान नियुक्त हुए थे। वस्तुतः इनकी मुकर्ररी मुस्तकिल तौर पर नहीं हुई थी। पिताजी के मन में यह था कि जब तक जगदेव अपनी पढ़ाई-लिखाई समाप्त नहीं कर लेता है, तब तक उसके चाचा ही जमीदारी की दीवानी का कारबार सँभालें। मुंशी कुलदेव सहाय भी इस बात को समझते थे। इसीलिए वे मन लगा कर काम काज नहीं करते थे। साथ ही वे मुंशी हरदेव सहाय की भाँति न तो अनुभवी थे, न उनकी उतनी जानकारी ही थी; फिर काम काज में उनकी दिलचस्पी भी न रहती। अपनी सारी उम्र उन्होंने ऐस-आराम में गुजारी थी। जवानी भर वह एक जमींदारी से दूसरी जमींदारी में भटकते रहे। मुंशी हरदेव सहाय का अवध तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश के जमींदारों में काफी नाम था। बड़े-बड़े जमींदार भी उन्हें आदर और श्रद्धा की नजर से देखते थे, उनकी सलाह की कद्र करते थे। उन्हें सम्मान देते थे और इसीलिए मुंशी कुलदेव सहाय दीवानजी के छोटे भाई के नाम पर जगह पा जाते थे। पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ,

कुलदेव सहाय का मन सदा ही ऐश-आराम में लगा रहता था। जमीं-दारी का कारबार उनके लिए गौण था।

पिताजी का सदा बीमार रहना, दूसरे कुलदेव सहाय की लापरवाही से जमीदारी का काम-काज ढीला पड़ रहा था, लगान बकाया पड़ जाती थी। खर्च तो वैसे ही बढ़ा हुआ था। पिताजी इस बात से और भी चिन्तित थे। इससे इनके स्वास्थ्य पर और भी बुरा असर पड़ता था और उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता जा रहा था। वे लगातार मुझ पर जोर डाल रहे थे कि पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर मैं जमींदारी का काम सँभालूँ। बल्कि उनकी तो यह भी राय थीं कि जगदेव भी अपनी पढ़ाई छोड़ दे। हम दोनों पिताजी के जीवित रहते ही कामधाम सँभाल लें, ताकि वे निश्चिन्तता की साँस ले सकें। किन्तु शहर की रंगीनियों के आकर्षण से मैं शहर छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता था। वैसे जमीदारी का सर्वेसर्वा बनने और अपनी मनमानी ऐश-मौज करने और रोबदाब रखने की मुझे काफी तमन्ना थी, परन्तु मैं यह निश्चित रूप से समझता था कि जब तक पिताजी जीवित हैं, तब तक मैं अपने मन की नहीं कर सकता। कुछ न होगा तो भी उनका शील-लिहाज तो करना ही होगा। दूसरे मेरी उम्र अठारह के करीब हो चुकी थी। उस उम्र में पिताजी का शासन मुझे बहुत ही अखरता था।

आज एक बात स्पष्ट कर दूँ। पिताजी को जब मैं बीमार देखता था तब कभी-कभी मेरे मन में यह बात आती थी कि अगर पिताजी का इन्तकाल हो जाय तो मैं स्वतन्त्र हो जाऊँ। यद्यपि यह बात मैं जबान पर किसी के सामने नहीं ला सकता था, पर कभी-कभी ऐसे विचार जरूर मेरे मन में उठते थे।

ऐसे ही एक मौके का प्रसंग है। जगदेव और मैं दोनों जने बैठे गप लड़ा रहे थे। बात औरंगजेब के शाहजहाँ को कैद कर लेनेको

लेकर चल रही थी। मैंने कहा—"जगदेव, तुम क्या सोचते हो कि औरंगजेब ने शाहजहाँ को कैद में डाल कर कोई बुरा काम किया ?

यह बात मैंने कहा तो जरूर, पर मन में आशंका थी कि जगदेव कहीं मेरे मन की बात ताड़ न जाय। इसलिए मैं उसके मुँह को गौर से देख रहा था—देखें, उसके मुँह पर कौन-सा भाव खेल रहा है।

जगदेव ने कहा—"तुम क्या सोचते हो, कोई अच्छा काम किया। ऐसा कौन दुष्ट होगा जो अपने पिता को गिरफ्तार कर के कैदखाने में डाल दे और खुद राज-सुख भोगे।"

"किन्तु इस बात का और भी एक पहलू है।" मैंने कहा "शाहजहाँ को भी कम से कम इतना तो सोचना चाहिये था कि खुद उसके लड़के जवानी की सीमा में पहुँच गये हैं और यदि उन्हें राज-काज संभालने का अभी मौका नहीं दिया जायगा तो बुढ़ापे में अगर उन्हें सारी दुनियाँ का चक्रवर्तित्व भी दे दिया जाय तो भी उनके लिए निस्सार होगा। जब उस बूढ़े शाहजहाँ को अपने लड़कों की भावना का ख्याल नहीं था, तब लड़के ही अपने पिता के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह क्यों करते ?"

जगदेव— परन्तु मैं यह किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि अपने बूढ़े बाप को कैदखाने में डाल दिया जाय। उसे तड़प कर मरने के लिए छोड़ दिया जाय। असल बात यह है कि मुसलमान बादशाहों ने नीति का निर्वाह नहीं किया। दुनिया के इतिहास में खोजने से भी यह दृष्टान्त नहीं मिलेगा कि अपने बाप को कैद करो, जेल में सड़ा दो, उसका वध करो और आप राज्य सुख भोगो। मैं मानता हूँ कि राज्य-सुख बड़ा भारी आकर्षण रखता है, पर मर्यादा भी तो कोई चीज है। मुसलमानों ने इसी मर्यादा का उल्लंघन किया। मुग़ल बादशाहों में तो इसकी परम्परा ही चल पड़ी थी। जहाँगीर ने अकबर को परेशान किया। जहाँगीर से राज्य प्राप्त करने के लिए उसके लड़के शाहजहाँ ने

बग़ावत की और उसके लड़के औरंगजेब ने इसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया—उसे कैद में डाल कर सड़ा डाला। इसकी कौन सराहना कर सकता है? एक तरफ जहाँ मुसलमान बादशाहों की यह परम्परा रही है, वहाँ हमारे यहाँ देखिये। मैं कहता हूँ कोई एक भी ऐसा उदाहरण तुम दो, जिसमें किसी हिन्दू ने अपने बाप को गिरफ्तार कर के राजगद्दी प्राप्त की हो?"

यह कह कर वह मेरी ओर इस तरफ से देखने लगा जैसे उसने अकाट्य तथ्य पेश किया हो। उसकी उस दृष्टि मे विजय का गर्व समाया हुआ था।

आजतक किसी का भी दर्प मुझे नहीं सुहाया है। उस समय की बात तो और भी दूसरी थी। साथ ही मैं जानता था कि उसके ऐसा सोचने का दृष्टिकोण एकांगी है मैंने कहा—"किन्तु जगदेव, एक बात तुम भूल रहे हो। हिन्दू और मुसलमान बादशाहों के घरानों की परिस्थितियों पर तुमने कभी विचार नहीं किया है। मैं कहता हूँ जिन परिस्थितियों में मुसलमान राजकुमारों को गुजरना पड़ता था, उसमें अगर हिन्दू राजकुमारों को गुजरना पड़ता तो हिन्दू राजपरिवारों में भी वही घटनाएँ घटतीं जो मुसलमाम राजपरिवारों में घटीं। हिन्दू राजपरिवारों में यह जो परम्परा चली आयी है कि बुढ़ापे में पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजभार संभलवा देता था, इससे विद्रोह होने से बच जाता था। परन्तु इसके बावजूद हिन्दू राजपरिवारों में विद्रोह क्यों कम हुए हैं। भाइयों ने आपस में जहाँ प्रतिद्वन्दिता की, खुले आम विद्रोह हुए। षड़यन्त्र रचे गये, विष दिये गये। कितने ही तलवार के घाट उतारे गये। इन सबका क्या कम लेखा है और इन बातों से सिवा मैं यह जोर देकर पूछता हूँ कि एक वृद्ध पिता को यह कहाँ का हक है कि मौत के मुँह में बैठे हुए भी वह राज्याधिकारी बना रहे और उसका समर्थ बेटा राज्य के लिये तरसता रहे। ऐसी स्थिति में अगर

बेटा, बाप को कैद कर लेता है तो वह हजार बार जायज है, बल्कि मैं तो कहूँगा, समर्थ लड़के को ऐसा करना ही चाहिये ।''

अन्तिम बात पर अप्रत्याशित रूप से ऐसा जोर पड़ गया कि जगदेव मर्मभेदी दृष्टि से मेरी ओर देखने लगा जैसे वह किसी भेद को मेरी आँखों में पढ़ रहा हो । कुछ क्षण तक वह मेरी ओर इसी तरह मर्मभेदी दृष्टि से देखता रहा । फिर वह मुस्कराने लगा । जैसे उसने किसी तथ्य को पा लिया है ।

उसकी इस मुस्कुराहट से मुझे झेंप मालूम हुई यद्यपि जगदेव और मुझमें इतनी घट-घट थी कि भी बात का दुराव नहीं था, तो भी मेरे इस विचार को भाँप लेने के कारण मुझे कुछ संकोच हुआ ।

कुछ देर तक वह इसी तरह मुस्कुराता रहा फिर ठठाकर हँस पड़ा । बोला—''बादशाहों को कैद में सड़ना पड़ा है, यह बात सही है, किन्तु विद्रोही राजकुमारों को भी उन्होंने नाकों चने चबवा दिये । बल्कि, अगर दो-एक बादशाहोंको अपनी जान गवानी पड़ी है तो कितने राजकुमारों को अंधेरी काल कोठरियों में घुट-घुट कर दम तोड़ना पड़ा है, कितनों को नरक से बदतर जिन्दगी बर्दाश्त करनी पड़ी है, यह कोई हँसी खेल नहीं रहा........

इस विषय पर मैं जगदेव से बातें नहीं करना चाहता था । दरअसल वह तो एक क्षणिक ख्याल था जो रह रह कर मेरे मन में उठ जाता था । न तो कभी उस विषय पर मैंने गम्भीरता से सोच ही था, न उसकी कोई महत्ता ही थी । वह तो एक क्षणिक ख्याल था और बाद में तो दो वर्ष में पिताजी का इन्तकाल ही हो गया । यह घटना सन् दस की है । उस समय मेरी उम्र बीस पार कर चुकी थी । आज इसे स्वीकार करता हूँ कि पिताजी की मृत्यु से जहाँ मुझे हार्दिक कष्ट हुआ था, वहीं अन्तर्मन में एक पुलक भी हुई थी —'अब मेरे रास्ते में आने वाला कोई भी नहीं है । अब मैं स्वतंत्र हूँ । अपनी जमींदारी का मैं सर्वेसर्वा

हूँ। पर यह पुलक मेरे मन तक ही रही। इसकी भनक भी किसी के कानों तक नहीं पड़ने पायी। वैसे अन्तरङ्ग तो मेरा एक मात्र जगदेव ही था और उसके सामने दो-तीन वर्ष पहले भूल से पिताजी के बारे में मेरे विचारों का जो आभास प्रकट हो गया था उससे मुझे काफी झेंप हुई थी, फिर उस तरह कोई मौका मैं नहीं देना चाहता था। सही बात यह थी कि यह पुलक तो क्षण भर के लिए ही रही। पिताजी की मृत्यु से मुझे काफी सदमा पहुँचा था।

पिताजी के जीवन काल की दो-एक घटनाओं का मैं और वर्णन कर देना चाहता हूँ। जिस तरह हमारी जमींदारी में बड़े-बड़े हाकिम आया करते थे। जमींदारी से उनका घनिष्ट सम्पर्क था, उसी तरह कुछ छोटे छोटे स्थानीय कर्मचारी भी थे जिनका हमारी जमीदारी से गहरा सम्पर्क था। पिताजी यद्यपि उन्हें अपने बराबर का ओहदा नही देते थे, पर हमारी जमींदारी में उनका स्थान महत्वपूर्ण था, इसमें कोई संदेह नहीं।

इन स्थानीय सरकारी कर्मचारियों में पुलिसवालों का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण था। सिपाहियों का डेरा अक्सर मेरे यहाँ रहता था। उन्हें आमदनी भी हो जाती थी। थाने के मुंशी लोग अपना स्थान बनाये रहते थे। आसपास के गावों में उनका काफी दबदबा रहता, परन्तु जो स्थान थानेदार का रहता, वह अन्य कर्मचारियों का नहीं था। जमीं-दारी के गावों से उन्हें काफी आमदनी हो जाती थी; बल्कि हमारी जमीं-दारी के थाने पर आने के लिए थानेदार लोग तरसा करते थे। जो थानेदार वहाँ रहता, दूसरे थानेदार उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या करते थे।

हमारे इलाके के थानेदार को घूस में जितनी आमदनी थी, उतनी आमदनी अन्य थानों के थानेदारों को शायद ही हो पाता थी। थानेदार लोग पिताजी और दीवानजी का अदब करते थे, पर अन्य सभी लोगों पर अपना पूरा रोब रखते थे। प्रकारान्तर से उन्हें यह बतला

देते थे कि हम सरकारी पुलिस के अधिकारी हैं, जब जिसे चाहें परेशान कर सकते हैं।

गाँव वालों पर थानेदार का शासन चलता ही रहता था। उनमें कभी कोई ऐसा भी महत्त्वकाँक्षी आ जाता था जो पिताजी से भी बराबरी का दावा करना चाहता था। हाँला कि उन्हें अच्छी तरह यह ज्ञात था कि पिताजी का सम्पर्क जिले के कलक्टर तक है, बल्कि जो भी कलक्टर जिले में आता है वह पिताजी का दोस्त हो जाता था। अन्य सरकारी अधिकारियों से भी उनका सम्पर्क रहता था, इससे नीचे के सरकारी अधिकारी पिताजी से बराबारी का दावा नहीं कर पाते थे। दूसरे वह पिताजी से बैर मोल लेकर जमीदारी में टिक नहीं सकते थे। उनको आमदनी नहीं हो पाती और कभी-कभी तो उनको अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ जाता था।

मुझे अच्छी तरह याद है। एक थानेदार हमारी जमीदारी में आये, उनकी बदली अवध ताल्लुके से हुई थी। वहाँ पर उनका काफी रोब-दाब रहा था। कुछ जमींदारों पर भी उन्होंने अपना रोब गालिब कर रखा था। जब हमारे यहाँ के हल्के में बदल कर आये, तो उन्होंने अपनी आदत के अनुसार शान दिखाना शुरू किया। किसानों-काश्तकारों आदि पर रोब-दाब रखने और सख्ती बरतने का, उनसे घूस लेने का; पिताजी को कोई एतराज नहीं था, बल्कि वे खुद गाँव वालों को दबाकर थानेदार को घूस दिलाते थे, पर जब ये नये थानेदार आये तो उन्होंने पिताजी पर भी अपना रोब जमाना चाहा। किसान, मजदूर तो उनसे थरथर काँपते थे। कभी घोड़े पर चलते, पर ज्यादातर वे पालकी पर ही चलते थे। मुसहरों-चमारों, भरों, बिनों, वगैरह को वे पकड़वा मँगवाते और दिन-रात बेगार में रखते। इससे पिताजी को क्या एतराज हो सकता था? थाने के पास ही इमली के पेड़ में हर वक्त दो-चार आदमी बँधे पड़े ही रहते—कभी कोई कसूर कबुलवाने में, कभी किसी

अन्य मामले में कस कर घूस वसूल करने में वह मार पड़वाते कि मार खाने वाले के सामने दिन में तारे नाचने लगते। चाहे उसने जुर्म किया हो या न किया हो, थानेदार चाहते तो उससे जुर्म कबूल करवा देते, घूस की मनमानी रकम वसूल कर लेते। यहाँ तक तो जायज था, पर जब पिताजी को मालूम हुआ कि वह उनके ऊपर भी हावी होना चाहते हैं, तब पिताजी का रुख बदला; पिताजी ने उन्हें बतला दिया कि अभी तक उन्हे किसी खानदानी जमींदार से पाला नहीं पड़ा है— नहीं तो अब तक दाढ़ी का बाल-बाल नुच गया होता। वैसे कमाना-खाना हो तो कमायें-खायें, हमें क्या एतराज। पर अपनी सीमा के बाहर न जायें।

पहले तो थानेदार कुछ कड़े पड़े। बात एक प्यादे को लेकर थी। हमारे किसी प्यादे ने लगान वसूली के सिलसिले में एक काश्तकार की काफी पिटाई कर दी थी। उसका एक हाथ टूट गया था। थानेदार नये-नये आये थे। उन्होंने सुना तो हमारे प्यादे को बुलवाया और बिना सोचे-समझे हवालात में बन्द कर दिया। ऐसा करने का उनका एक ही मकसद था कि इस तरह वे पिताजी पर अपना प्रभाव डालना चाहते थे। पिताजी ने उन्हें संदेशा भेजा कि प्यादे को छोड़ दें पर थानेदार ने नहीं छोड़ा। पिताजी तरखा खा गये। थानेदार को कहवा भेजा कि अगर नौकरी बरकरार रखना चाहते हों तो जरा कायदा-कानून समझें कि राजा रिपुमर्दन से किस तरह सलूक किया जाता है। नहीं तो किसी दिन गोली के घाट उतार दूँगा।

सही बात यह है कि थानेदार को पिताजी का स्वभाव और उनकी शक्ति ज्ञात नहीं थी। गोलीवाली बात पिताजी ने बहक में नहीं कही थी। अगर वह जिद् में आ जाते तो थानेदार के जान की खैर नहीं थी। एक बार ऐसा हो भी चुका था। कलक्टर और पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट के साथ पिताजी शिकार खेल रहे थे। वे तीनों एक जगह पड़ाव डाले हुए

थे। कलक्टर के एक मुँहलगे चपरासी ने पिताजी की शान के खिलाफ कुछ कह दिया और पिताजी ने उसी क्षण उस पर बन्दूक दाग दी। वह वहीं ठंडा हो गया। बाद में कलक्टर और एस० पी० ने कुछ नाक-भौं सिकोड़ी तो उनकी जेब में रुपये से ठूँस दिये। बात वहीं की वहीं दब गयी कि भूल से बन्दूक का घोड़ा दब गया।

नये थानेदार और पिताजी के तनाव के बारे में जब एस० पी० को मालूम हुआ तो उसने पिताजी के सामने ही थानेदार को वह डाँट बतायी कि वह मुँह चाटने लगा। बाद में तो पिताजी से उसकी ऐसी पटी कि उसके तबादले के बाद भी पिताजी उसे याद करते थे। बीच-बीच में वह आता और दो चार दिन बिता कर चला जाता था।

इसी तरह इलाके के कानूनगो से भी सम्पर्क रहता था। आमतौर पर जितने भी कानूनगो आये, उनका जमींदारी से अच्छा सम्बन्ध रहा। हम लोगों को तो सहूलियत रहती ही थी, उनको भी आमदनी का अच्छा जरिया मिल जाता था।

किन्तु थानेदार और कानूनगो तो इलाके में अधिकसे अधिक चार-पाँच वर्ष तक ही रह पाते थे। उनकी बदली हो जाती थी और उनके स्थान पर दूसरे नये आदमी आ जाते थे। पर इलाके के पटवारी मुश्तकिल तौर पर थे। अब तो पटवारियों का नाम अन्य सरकारी कर्मचारियों की तरह बदल गया है। उसी तरह उनकी मुकर्रर होती है। पर यह सब बात तो अभी हाल में, बल्कि साल-आध साल से हुई है। मेरे समय और मेरे पिताजी के समय में ये पटवारी एक हल्के पर प्रायः स्थायी रूप से रह जाते थे। उनकी नियुक्त भी पैत्रिक आधार पर होती थी। पिता की जगह पर पुत्र आ जाता था। हाँ, पटवारियान का इम्तहान उसे पास करना पड़ता था। और बहाली के समय कानूनगो और नायब तहसील-दार को कुछ भेंट करना पड़ती थी। पहले पटवारियान का इम्तहान एक

खेल ही था। लड़कों के इम्तहान पास करने का तरीका भी प्रायः एक सा ही रहता था—केवल घूस से सनद मिल जाती थी।

मेरे पिताजी के समय जो पटवारी थे; उनकी याद अब भी ताजा है। नाटे-ठिगने आदमी थे। कुछ और छोटे रहे होते तो बौनों में शुमार हो जाते। तुलबुल चलते थे। जल्दी-जल्दी कदम उठाते थे। लगता था जैसे मेढ़क की तरह उचक रहे हों। धोती का एक छोर घुटने को छूता रहता था और दूसरा सरक कर ठेहुने तक पहुँच जाता था। कुर्त्ते की बटन अक्सर टूटी रहती या अगर रहती तो भी गला खुला ही रहता था। उस तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता था। बगल में बस्ता दबाये हाथ में दावात थामे, कान पर कलम रखे और आँखों पर चश्मा चढ़ाये उनकी सूरत भुलाने से भी नहीं भूलती है। कुर्त्ते की एक जेब में कहीं दाना-चबैना पड़ा होता, और परताल करते समय कभी-कभी दाना भी फाँकते जाते थे। सन्ध्या समय जब वह घर लौटते थे तब उनकी अँगोछी की खूँट में कहीं गुड़ बँधा रहता, उसकी लसलसाहट से मक्खियाँ उनपर भिनकती रहतीं। एक खूँट में कोई सब्जी–तरकारी बँधी रहती। कहीं अचार, कहीं दाल, कहीं और कोई चीज। उनका यह नियम था कि इलाके में उन्हें जो कुछ भी मिल जाता, छोड़ते नहीं थे। कपड़े उनके सदा ही गन्दे रहते। मक्खियाँ भिनभिनाया करतीं। यह बात नहीं कि उन्हें रूपये-पैसे का अभाव हो, पर अपनी आदत से मजबूर थे।

एक बार की बात मुझे याद है। जाड़े के मौसम में पिताजी कुर्सी पर बैठे धूप का आनन्द ले रहे थे। वैसे एक तरह से एकान्त में थे, पर सन्तलाल पटवारी को छूट थी कि किसी भी समय पिताजी से मिल सकते थे। उनकी नर्मजबानी और अखलाक से पिताजी बहुत खुश रहते थे। सन्तलाल बिना सरकार और हुजूर कहे एक लफ्ज भी नहीं बोलते थे। पिताजी के सामने पहुँचे तो जो चादर वे ओढ़े थे, उसमें कहीं तेल का चीकट, कहीं खाना खा कर हाथ पोंछने से हल्दी और मसाले का

निशान, आग तापने से कालिख और धूँए का दाग, कहीं गुड़ की लसलसी, कहीं अचार का दाग, कहीं घी और तेल का निशान, मक्खियाँ अलग भिनभिना रही थीं। लम्बा सलाम बजाकर जब खड़े हुए तो पिताजी ने कहा—"सन्तलाल, इतनी गन्दगी तो कूड़े पर भी नहीं होगी। जरा कपड़ा साफ करा लेते तो क्या नुकसान था!"

सन्तलाल ने कहा—सरकार बन्दे को ऐसी औकात कहाँ कि राजा-रईसों के कपड़ों से अपना मुकाबला कर सके।"

पिताजी—"पर कम से कम साफ तो कर ही सकते थे।"

"हुजूर", सन्तलाल ने कहा "यहाँ तो नून-तेल से ही निपट नहीं पाता और सामान कहा से खरीदें।"

यह बात सरासर झूठ थी। पर ऐसी बातें कह कर वे पिताजी से कुछ हासिल कर लेना चाहते थे। वे किसी भी मौके को हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। और हुआ भी यही, पिताजी ने उन्हें पूरी पोशाक बनवा दी।

सन्तलाल कभी-कभी मुझे अपनी जिन्दगी की कहानियाँ सुनाया करते। मैं बड़े चाव से सुनता। मेरी किशोर बुद्धि में सन्तलाल की कहानियाँ अलिफ-लैला के दास्तान से दिलचस्पी मालूम होती थीं।

उन्होंने मुझे बताया था कि किस तरह उन्होंने पटवारीगीरी का इम्तहान पास किया था—'जब इम्तहान के लिए मुमतहीन के सामने गया तो उसने पूछा चार पँचे। मैंने तुरन्त जवाब दिया-उन्नीस। सुनकर मुमतहीन ने आँखे चढ़ा लीं। बोला—इतना भी नहीं जानते कि चार पँचे बीस होता है। मैंने तुरन्त हाथ जोड़कर कहा—सरकार केवल एक का फर्क रह गया। जवाब करीब ठीक है। सुनकर मुमतहीन हँसने लगा और मुझे पास कर दिया।'

इसी तरह उन्होंने बताया कि एकबार एक काश्तकार के मुकदमें में इजलास पर गया। वैसे पटवारगीरी के मामले में महीने में दस-पाँच

बार कचहरी जाना ही पड़ता है। काश्तकार से बीस रुपये ठहरे थे। उसकी एक विधवा भावज थी। उसी के खिलाफ जमीन के मामले में बयान देना था। काश्तकार मीठी बातों में टालता रहा और जब मैं डिप्टी साहब के सामने कागज लेकर खड़ा हुआ तो वहाँ भी उसने नहीं दिया। उसने सोचा, अब तो जो कागज में है वह दिखाना ही पड़ेगा और इस तरह मेरी डिग्री हो जायगी। पर मैंने डिप्टी साहब के सामने ही काट कर नाम बदल दिया। डिप्टी साहब के एतराज करने पर मैंने बताया कि हूजूर सही बात का मुझे अब ख्याल पड़ा है और सच बात सरकार के सामने लिखने में क्या हर्ज है ?'

अधिकारियों से उनका व्यवहार जितना ही नम्र और अखलाकी था, काश्तकारों-किसानों से उतना ही कड़ा था। लोग उनके नाम से थर-थर काँपते थे—जाने अपनी कलम की नोक से कानून की किस उलझन में फँसा कर किसको भिखमङ्गा बना दें। कचहरी के दरवाजे पर नाक रग-ड़वाते-रगड़वाते घिसा डालें।

सही बात यह थी कि अपने पटवारीगिरी के जमाने में उन्होंने बड़े-बड़े काश्तकारों को नाकों चने चबवा दिये। जब उन्होंने पटवारगीरी का चार्ज लिया था उस समय उनका मकान छान्ह का था, पर अपने जमाने में उन्होंने पक्की हवेली बनवा ली, सैकड़ों बीघे की काश्त अपने नाम लगा ली। बाग, बगीचा, कूँआ सभी कुछ। लड़कों को पढ़ाया-लिखाया, शादी-व्याह, सभी शाहखर्ची के साथ किया। यह सब उनकी आम-दनी के जोर पर ही था, नहीं तो तनख्वाह तो उन्हें जमापूँजी सात रुपये ही मिलती थी। उतने रुपये में क्या होता ?

अविस्मरणीय बातें

सन् १६१० का साल मेरी जिन्दगी में काफी महत्त्वपूर्ण रहा। दर असल वर्षों से मैं जिस बात की कामना कर रहा था, वह पूरी हुई। उस साल की घटनाओं में दो मुख्य हैं—'एक तो मेरे बड़े लड़के बीरू का जन्म, और दूसरे पिताजी की मृत्यु।

बीरू का जन्म जिस समय हुआ, मैं बनारस में था। पिताजी भी वहीं पर पड़े हुए थे। महीनों से उनकी तबीतत खराब चल रही थी। जिस दिन बीरू का जन्म हुआ, उसके तीन दिन पहले पिताजी का आपरेशन हुआ था। उनकी जाँघ में एक बड़ा फोड़ा निकल आया था, उसी का आपरेशन हुआ था। आपरेशन अस्पताल में कराया गया था। पिताजी उठने में असमर्थ थे। डाक्टरों का कहना था कि घाव भरने में पन्द्रह दिन का समय लग जायेगा।

आपरेशन होने के चौथे दिन गाँव से समाचार आया कि बीरू का जन्म हुआ है। पिताजी ने जब यह समाचार सुना तो जैसे प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठे। उल्लास और आनन्द के मारे उनकी आँखों में आँसू आ गये। उनकी परिचर्या में जो नर्सें खड़ी थीं, उनसे उन्होंने कहा—

"डाक्टर साहब को बुलाओ, मैं घर जाना चाहता हूँ।"

नर्स ने कहा—"अभी तो आप का घाव भरने में दस-पन्द्रह दिन का समय लगेगा। उसके पहले जाने की इजाजत डाक्टर साहब आपको नहीं दे सकते।"

पिताजी—"तुम डाक्टर को बुलाओ तो सही, मैं उनको राजी कर लूँगा।"

डाक्टर तो अपने आप ही पिताजी के पास आ रहे थे। आते ही

उन्होंने कहा–"राजा साहब, पोता होने के उपलक्ष्य में आपका मुबारक-बाद देने आया हूँ।"

फिर हँसते हुए कहा—"मिठाई खिलाइये। बल्कि सारा अस्पताल आपसे मिठाई खाने का हकदार हो गया है।"

पिताजी ने अधीर होकर कहा—"डाक्टर साहब, भगवान् ने आज यह खुशी का दिन दिखलाया है, आप लोगों को तो हक ही है। पर आप से एक बात यह कहनी है कि मुझे घर जाने की इजाजत दीजिये।"

पिताजी की बात सुनकर डाक्टर साहब क्षण भर के लिए स्तब्ध से हो गये। जैसे उन्होंने कोई अप्रत्याशित बात सुनी हो। कहा—

"राजा साहब, अभी तो आपका घाव भरने में कम से कम दस दिन का विलम्ब है। अभी तो आप चारपाई से उठ भी नहीं सकेंगे। जोर पड़ने से घाव पक जायगा। जल्दी क्या है? घाव ठीक होने पर चले जाइयेगा।"

पिताजी—"डाक्टर साहब, आप यह महसूस नहीं कर पा रहे हैं कि मेरे लिए यह कितनी खुशी का मौका है। मेरा पहला पोता हुआ और मैं यहाँ अस्पताल में पड़ा हुआ हूँ। अगर वहाँ होता तो दिल के सभी अरमान पूरे कर लेता। नेग-न्यौछार वाले, नाच, तमाशा, रंडी, भाँड़, नौटंकी वाले सभी घेरे होंगे। अब तो पुराने दीवानजी भी नहीं रह गये जो रियासती कायदे-कानून से वाकिफ़ थे। उन्हें मालूम था कि ऐसे मौके पर किस तरह रियासती शान का निर्वाह किया जाता है। नये दीवान को कुछ मालूम नहीं। अगर ऐसे मौके पर मैं नहीं पहुँच पाऊँगा तो मेरी जग-हँसाई होगी। लोग यही कहेंगे कि बीमारी तो एक बहाना है। खर्चे के कारण मुकर गये हैं। नातेदारों-रिश्तेदारों में बात जायगी। मैं इस समय यहाँ नहीं ठहर सकता।

डाक्टर अवाक् से पिताजी का मुँह ताक रहे थे और पिताजी अपनी

धुन में कहे जा रहे थे। डाक्टर यह सोच भी नहीं पाते थे कि ऐसे समय यह अस्पताल से कैसे छोड़ें। घाव पक जायगा। पिताजी को उन्होंने बहुत समझाया। आखिर पिताजी की इस बात पर सहमत हो गये कि तीन-चार दिन और रुक जायँ। पर उन्होंने मुझे समझा कर घर भेज दिया कि चाहे डाक्टर आने दे या न आने दे, बरही के मौके पर मैं जरूर आ जाऊँगा।

और हुआ भी ऐसा ही। बरही के एक दिन पहले ही वे घर पर आ गये। घाव उनका पूरा भर गया था। उन्होंने बताया—"डाक्टर को भी ताज्जुब हुआ कि इतना कड़ा घाव कैसे इतनी जल्दी भर गया। पर मेरे मन में तो बार-बार यही आता था कि कैसे जल्दी मैं इससे निपटारा पाऊँ। डाक्टर ने कहा कि यह आपके मन का प्रभाव ही है जो आप इतने शीघ्र स्वस्थ हो गये।"

अस्पताल के पूरे स्टाफ़ को पिताजी ने आने के पहले दावत दी थी। घर आने पर, जैसा कि हमारे खानदान का नियम था, पिताजी ने दिल खोल कर खर्च किया। जमींदारी के तमाम काश्तकारों ने नवजात शिशु को भेंट के रूप में रुपये दिये। वस्तुतः यह भेंट एक परम्परा के रूप में ही चली आती थी। किसी की इच्छा हो अथवा न हो, पर ऐसे मौकों पर उसे भेंट देनी ही पड़ती थी। कर्ज लेकर, सामान बेचकर, चाहे जिस तरह से हो काश्तकार इस नजर को जुटाते थे।

महीने भर तक जमींदारी में नाच-तमाशे, जलसे, दावत और पार्टी का जोर बँधा रहा। सरकारी अफसरों ने बधाइयाँ भेजीं। दावत और पार्टी में शामिल हुए। पिताजी ने जमींदारी के सभी बाशिन्दों को जिमाया था।

इस मौके पर जमींदारी के चमारों ने नटुओं का नाच भी मेरे दरवाजे पर कराया था। नटुओं की कई जोड़ियाँ आयी थीं।

यह जलसा-उत्सव चल रहा था। पर मुझे शहर जाकर पढ़ाई प्रारंभ करनी थी, वैसे मेरा मन इस नाच-तमाशे में रमा हुआ था। पर मुझे जाना ही पड़ा।

शहर पहुँचने पर मेरे दोस्त-मित्रों ने मुझे घेर लिया। सभी दावत के लिए तकाजे करने लगे। जगदेव उस समय इलाहाबाद में एम्० ए० में पढ़ रहा था। इस मौके पर दो दिन के लिए घर गया था और वहाँ से सीधे इलाहाबाद चला गया था। घर पर ही उसने मुझसे तय कर लिया था कि मेरे बनारस पहुँचने पर वह भी वहाँ पहुँच जायेगा। सभी मुझे घेर कर दावत के लिए तकाजे कर रहे थे। दावत देने में मैं एक शान समझता था। वह मैंने खुशी से दिया। पर मेरे अन्तरंग मित्र इतने से ही सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे।

जगदेव के नेतृत्व में मेरे पाँच सात अन्तरङ्ग मित्रों ने एक दिन घेर लिया। जगदेव मन्द-मन्द मुसकुरा रहा था। उसकी मुसकुराहट में एक कुटिलता थी। मैं समझ गया कि आज ये सभी गहरा हाथ मारना चाहते हैं। चारों ओर से मेरे ऊपर बौछारें होने लगी।

"भई, इस समय अगर तुम हाथ खींच जाओगे तो फिर दोस्ती नहीं निबहेगी।"

"अजी, तुमने राजा रिपुमर्दन को समझा क्या है। खानदानी रईस है। जरा सोच समझ कर बातें करो।"

"यह मैं कब कह रहा हूँ कि रिपुमर्दन खर्च से हाथ खीच रहा है। आखिर तुम कुछ कहो, वह इनकार कर नहीं सकता।"

"इनकार करने की क्या बात है? जो हम लोगों का हक है वह तो चुकाना ही पड़ेगा।"

"पहले तुम खुलो तो, क्या चाहते हो। आखिर यह पहेली बुझाने से क्या लाभ?"

मित्र लोग इसी तरह की बातें कर रहे थे। पर जगदेव चुपचाप बैठा

मुसकुरा रहा था। अकसर मेरी ओर देख लेता था जैसे मुझे ताड़ने की कोशिश कर रहा हो। अन्त में उसने कहा—"भई, ये लोग जो कह रहे हैं वह सुन रहे हो न?"

"सुन तो तुम भी रहे हो।" मैंने कुछ दाँव बदल कर कहा—"मेरे सुनने से क्या होता है। ये लोग जो कह रहे हैं उसका जवाब दो।"

जगदेव ने कहा—"इसमें जवाब देने की क्या बात है?"

उनका कुछ हक-पद होता है। वही इन्हें चाहिये।"

"उसे पूरा कर दो बस यही।"

यह कह कर जगदेव ने दोस्तों की ओर देखा और बोला—"क्यों?"

सबने एक स्वर से कहा—"जरूर यही बात है। इस मौके पर तुम हम लोगों को खुश कर दो।"

मैंने कहा—"अब क्या रहा भाई तुम लोगों का हक? दावत तो मैंने दे ही दी।"

सबने एक स्वर से कहा—"ऐसे गैरों के साथ बैठा कर खिलाया, इसमें क्या रखा है। हम लोग तुम्हारे खास दोस्त हैं; खास दावत होनी चाहिये हम लोगों की।"

मेरे दिल में भी यह बात थी कि हम पाँच-सात दोस्त कोई तफरीह का प्रोग्राम बनायें। पर उन पर ऊपर से मैं बन रहा था। आखिर यह तय पाया गया कि एक दिन मेरी ओर से गंगा में किश्ती पर रण्डी का नाच कराया जाय। इसमें केवल पाँच-सात दिली-दोस्त ही शामिल हों।

पर इसके खर्च का सवाल था। पिताजी से जो रुपया लाया था, वह दावत में ही खर्च हो चुका था। कुछ इनाम-इकराम में चला गया। जगदेव की राय से मैंने अपनी हीरे की अंगूठी बेच दी। दो हजार रुपये प्राप्त हुए थे। हजार रुपये के करीब जलसे-नाच-रंग-शराब—

कबाब में खर्च हुआ और शेष रुपये भी मैंने दो-तीन महीनों में ऐसे ही कामों में खर्च कर डाला।

अंगूठी के बारे में पिताजी के पास मैंने समाचार भेजवा दिया कि चोरी हो गयी। इसमें भी मैंने एक बात का ख्याल रखा। अगर इस बात को बताता कि मकान पर से चोरी हो गयी तो पिताजी नौकरों पर शक करते और उनको पिटवाते-पिटवाते अधमरा कर के छोड़ते। यद्यपि नौकरों के पिट-पिटा जाने से मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था, पर जगदेव की सलाह से मैंने यह समाचार भेजा कि गंगा-स्नान करने के लिए गया, वहीं गायब हो गयी। गंगा-स्नान का नाम देने की एक बात और थी। पिताजी और माताजी के हृदय पर एक असर पड़ता कि लड़का धार्मिक भावनाओं का है। खास कर माताजी के हृदय पर इसका बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन्होंने और कुछ नहीं पूछा। नहीं तो अगर मकान से गायब हो जाने की बात कहता तो पिताजी जैसे नौकरों पर शक करते, उसी तरह मेरी बात का भी कम ही विश्वास करते। पर गंगा-स्नान का नाम ले लेने से सब तरफ से छुट्टी मिली। दरअसल यह बहाना जगदेव के दिमाग की उपज थी। शेष बचे रुपयों को भी मैंने जगदेव की शामिल शराकत में ही खर्च किया था।

पढ़ाई-लिखाई में एक तो मेरा मन वैसे भी नहीं लगता था। ले-दे कर मैं एफ. ए. के पहले साल में पहुँच गया था। वह भी एक तिकड़म ही थी। मैट्रिक की परीक्षा में लगातार तीन साल गुजर गये थे। मैं आगे नहीं बढ़ पा रहा था। दोस्त-मित्र मजाक उड़ाते थे कि नींव मजबूत कर रहा हूँ जिसमें पढ़ाई किसी तरह भी कच्ची न रह जाय।

मेरे और साथी ऊँचे दरजे में पहुँच गये थे। जगदेव भी एम. ए. की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद चला गया था। उसी ने एक बड़े मौके की बात बतायी। छुट्टी में वह जब एक बार लौटा तो उसने कहा—

''यार एक बड़े काम का आदमी हाथ लगा है। इस साल तुम अपने को इन्ट्रेन्स की परीक्षा में पास ही समझो।''

मैं उसका मुँह देखने लगा। मैं यह लेना जान चाहता था कि वह गम्भीरता से कह रहा है अथवा कोरा मजाक ही उड़ा रहा है।

मैंने कहा—''रहने दो, इस जन्म में मुझे इन्ट्रेन्स पास करने की कोई जरूरत नहीं है।''

उसने कहा—''नहीं मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ। सच बात है, एक बड़े काम के आदमी से मुलाकात हुई है।''

उसकी बात में गम्भीरता थी। मैं चुपचाप एकटक उसका मुँह देख रहा था। यद्यपि, उसका मुँह गम्भीर था पर तो भी मुझे विश्वास नहीं हो पा रहा था कि ऐसा कौन सा जादू यह देगा कि जिस क्लास में मैं तीन वर्षों से लुढ़क रहा हूँ, उससे मैं छलाँग मार जाऊँगा।

एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ कि पढ़ने-लिखने में मेरी बुद्धि तेज थी। कुन्द जेहन मैं कभी नहीं रहा। पर जब पढ़ाई-लिखाई का मौका मिले तब न, मेरा सारा समय तो दोस्त मित्रों के साथ गुजर जाता था। उससे जो समय बचता था वह आनन्द-मौज के साधन खोजने में चला जाता था। फिर पढ़ता-लिखता किस समय?

मैंने कहा—''देखो, पहेली मत बुझाओ, जरा सुनूँ किस जादूगर से तुम्हारी मुलाकात हो गयी है जो तीन वर्षों से मेरी लुढ़कती गाड़ी को उछाल देगा।''

जगदेव—''भई, बात मैं सच कह रहा हूँ। बोर्ड में एक आदमी है। उसकी मुट्ठी गर्म करने की जरूरत है। अगर थर्ड डिवीजन के भी नम्बर नहीं हैं तो वह फर्स्ट डिवीजन में कर देगा। उसकी इस मदद से कितनों की किस्मत सुधर गयी है। कितने फेल-शुदा अच्छे डिवीजन में पास होकर मूँछों पर ताव दे रहे हैं। मैंने उससे तुम्हारे बारे में भी बातें

की हैं। इस साल तुम बस अपने को पास ही समझो। केवल परीक्षा में बैठ भर जाना।"

सुन कर मैं उछल पड़ा। जगदेव को मैंने अपने सीने से लगा लिया।

जगदेव ने और आगे कहा—"पहले तो मुझे उसकी बात का विश्वास ही नहीं हुआ। उससे मुलाकात एक दावत में हुई थी। फिर तो मैं उसके पीछे पड़ गया। आदमी यारबास है। खूब खिलाया-पिलाया। तब जाकर वह खुला।"

फिर तो मुझे एक और भी तरकीब मालूम हुई। मेरे एक साथी का भाई इसी तरकीब से इस साल मैट्रिक का इम्तहान पास कर गया है।

"वह क्या?" उतावला होकर मैंने पूछा।

"उसके लिए जरा पहले से ही तैयारी करनी पड़ती है। फार्म भरते समय ही एक आदमी को उसने ठीक कर लिया था। फार्म पर दस्तखत फोटो सब उसी आदमी का रहा। केवल नाम मेरे दोस्त का था। इम्तहान भी वही लड़का जाकर दे आया। और पास होने वालों में नाम निकला मेरे दोस्त के भाई का। इस तरह न जाने कितने होशियार लड़के बिना मेहनत किये ही और परीक्षा में बैठे बिना ही पास हो जाते है।"

यह कह जगदेव कुछ रुक गया। जैसे वह देखना चाहता हो कि उसकी इस बात का मुझ पर क्या असर पड़ रहा है। दरअसल मैं निर्वाक् सा जगदेव का मुँह ताक रहा था और सोच रहा था कि दुनिया में ऐसे मौके थे और मैं बेवकूफी में पड़ा हुआ था। सही बात है कि जब तक दस भले आदमियों की सोसाइटी में न बैठो-उठो, तब तक दुनिया का सही ज्ञान नहीं होता है।

इस तरह से मैंने मैट्रिक पास कर लिया था। और अब एफ० ए० में पहुँच गया था। पढ़ाई की तरफ से मैं सर्वथा उदासीन था।

इसी समय एकाएक पिताजी की बीमारी बढ़ जाने का समाचार मिला। दूसरे दिन पिताजी को लेकर लोग बनारस आये। उनके बचने की आशा नहीं रह गयी थी। पिताजी ने अन्तिम समय काशीवास करने की इच्छा जाहिर की थी कि मेरी मृत्यु काशी में ही हो और मणिकर्णिका घाट पर हो मेरा दाह-संस्कार हो।

पिताजी के साथ जमींदारी से सैकड़ों आदमी साथ आये थे। उनमें कुछ तो अपनी जरूरत से आये थे। कुछ यह दिखाना चाहते थे कि इस समय वे कितने चिन्तित हैं, पर सही बात यह थी कि अगर उन्हें दिखावा दिखाना न रहता तो वे हरगिज नहीं आते। इतनी बड़ी भीड़ के साथ रहने में कठिनाई और भी बढ़ गयी थी।

पिताजी का हर तरह से उपचार किया गया था। शहर के सभी डाक्टर पिताजी के जिलाने की चेष्टा में संलग्न थे। पर पिताजी का इस संसार से सम्बन्ध टूट चुका था। सन् १० की दिसम्बर की ७ तारीख को उनका स्वर्गवास हो गया।

पिताजी का दाह-संसार काशी में मणिकर्णिका घाट पर किया गया। दाह-संस्कार मैंने ही किया। उनका ब्रह्म-भोज जमींदारी में करना आवश्यक था क्योंकि यहाँ जितने कार-परोजन हुए हैं वह सब गाँव में ही किये जाते रहे हैं। इसका एक मुख्य कारण यह था कि जमींदारी के सारे साधन हमें गाँव में ही उपलब्ध हो सकते थे। नौकर-चाकर सब मुफ्त और भी सभी साधन वहाँ प्राप्त होते।

इसके सिवा नौकर-चाकर के रूप में हर वक्त जितने आदमियों की आवश्यकता होती, हाजिर रहते। नातेदारों-रिश्तेदारों की सेवा-सिफारिश के लिए नाइयों-कहारों की भीड़-सी लगी रहती, हर वक्त मुँह जोहते रहते। शहर में यह सुविधा कहाँ होती?

हमारे यहाँ एक बात की विशेषता यह रही है कि जो काम हमारे यहाँ किया जाता वह पूरे ठाट-बाट से, उस समय रूपये का मुँह देखने

की आदत हम लोगों में से किसी की नहीं रही है। कम से कम पिताजी और अपने बारे में तो मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ। ऐसे मौकों पर जैसे हम लोगों पर जैसे एक जुनून चढ़ जाता रहा हो। इसी आदत के कारण लाखों रुपये का कर्ज चढ़ गया था। मैं परेशान था कि किस तरह इस कर्ज से छुट्टी मिले। इस बुढ़ापे में मुझे वही चिन्ता खाये जा रही थी। जमींदारी टूटने का शोर भी बहुत दिनों से चलता आ रहा था। वह तो खैर अब खतम ही हो गयी। पर मैं इसी चिन्ता में परेशान रहता था कि किस तरह इस कर्ज से छुट्टी मिले। पर यह कहो कि बीरू राजनीतिक-पीड़ित के रूप में एक खासी लम्बी रकम सरकार से मार लाया है। उससे निस्तार मिला। कुछ इधर जब से बीरू मन्त्री हो गया है, कर्ज पटाने का बन्दोबस्त उसने कर दिया। और अब तो हमें ऐसी आशा है कि हमारा बीरू कम से कम अगली तीन पीढ़ियोंके लिए कमा जायगा। आगे राम मालिक हैं।

हाँ, तो पिताजी का क्रिया-कर्म भी हमने उसी ठाट-बाट से किया। जब मैं पिताजी के श्राद्ध की तैयारी कर रहा था तब माताजी ने आँखों में आँसू भर कर कहा था—"बेटा, देखना तेरे बाप के श्राद्ध में खर्च-वर्च की किसी तरह की कमी न होने पाये। तेरे पिता इतने प्रतापी हो गये हैं कि देश-देहात सबने उनका लोहा माना। कभी किसी से हेठ नहीं रहे। जब रहे तब दूसरों के सर ही रहे। उनका श्राद्ध भी उनके जैसा ही होना चाहिये।"

यह कह कर माताजी फूट-फूट कर रो उठीं। मेरी भी आँखें भर आयीं। चुपचाप माताजी को देखता भर रहा। बोलने का मुँह ही नहीं खुला। जब माताजी चुप हुईं तो फिर उन्होंने कहा—

"बेटा, खर्चे का मुँह न देखना। तेरे बाप नहीं रहे तो क्या, मैं तो अभी जीवित हूँ। जरूरत पड़ने पर ये गहने किस काम आयेंगे।"

किसी तरह धैर्य धरकर मैंने कहा—"माँ, मैं किसी तरह जग-हँसाई नहीं होने दूँगा। तुम निश्चिन्त रहो।"

"जरा दीवानजी को तो बुला लाओ। उनको मैं सब बातें समझा दूँ।" माताजी ने कहा।

एक नौकर भेज कर मैंने दीवानजी को माताजी का सन्देशा भेजा। माताजी दीवानजी के सामने नहीं होती थीं, पर परदे की आड़ से बात-चीत करती थीं।

दीवानजी के आने पर माताजी ने उन्हें भी यही ताकीद की कि श्राद्ध में किसी तरह की कमी न रहने पाये। हमारे यहाँ पहले जैसा कार-परोजन होता आया है, उसी तरह, बल्कि उससे भी बढ़ कर होना चाहिये।

दीवानजी ने उनको आश्वस्त किया।

पिताजी का श्राद्ध बड़े ठाट-बाट से हुआ। जिले में शोहरत मच गयी। पिताजी के श्राद्ध के बाद माताजी का सारा समय पूजा-पाठ में ही बीतने लगा। दुनिया के मामलों से वे एक तरह से तटस्थ हो गयीं।

पिताजी के श्राद्ध में मैं जो जमींदारी पर आया, तो वहीं रह गया, पर जगदेव की पढ़ाई चालू रही। उसने दूसरा मनसूबा बाँध रखा था। आई.सी.एस. करने के लिए वह विलायत जाने के मनसूबे बाँध रहा था।

जमींदारी का नया भार मेरे ऊपर पड़ा था। किन्तु मेरे मन ने इसे भार के रूप में ग्रहण नहीं किया। पिताजी की मौत का रंज थोड़े ही दिनों में मेरे मन से दूर हो गया। बल्कि यह स्वीकार कर सकता हूँ कि मेरे मन में एक उल्लास समाया हुआ था कि मैं एक दम स्वतंत्र हूँ। मेरे कार्यों में बाधा डालने वाला कोई नहीं रह गया है। इस विचार को मैं और किसी पर प्रकट नहीं कर सकता था। एक जग-देव ही ऐसा था जिसके सामने मैं सभी रूपों में खुला हुआ था। परन्तु वह तो इलाहाबाद में था।

वैसे धीरे-धीरे मेरे कुछ और दोस्त बढ़ रहे थे। दोस्त क्या मुँह-लगे दरबारी उन्हें कह सकता हूँ। सभी एक उम्र के थे। इलाके पर घूमने के लिए मैं निकलता था तो वे सदा मेरे साथ रहते। धीरे-धीरे मैं उनके सामने भी खुलने लगा। ऐसे ही दो दरबारियों के साथ मैं इलाके के गाँव में घूम रहा था। उनमें से एक ने कहा—"सरकार, बड़े सरकार के समय में तो हम लोगों की पूछ ही नहीं थी। उनके सामने हम जबान भी नहीं खोल सकते थे। सही बात तो यह है कि वे हमें सदा बच्चा ही समझते रहे। हमें अपना जौहर दिखाने का मौका नहीं मिला। अब आपके शासन में हम कुछ अपना हुनर दिखा सकते हैं।"

मैंने कहा—"अजी और सब काम-धाम देखने वाले तो बहुत हैं। तुम लोग बस इतना ही काम करो कि हर वक्त हमारे साथ रहो। हाँ, देहात में तो आनन्द-मौज का उतना साधन ही नहीं है जितना शहर में था।"

उनमें से एक ने कहा—"सरकार, साधन तो पैदा करने से न होगा। आपको कमी क्या है। जब जिस चीज का हुक्म हो हाजिर कर दूँगा।"

मैं इस बात को समझता था कि वे मुसाहिब मेरी हाँ में हाँ मिलाने के लिए भी हैं। वैसे जरूर वह शगल का बन्दोबस्त कर देते, सैर-शिकार में लुत्फ ला देते। जब हमारे नातेदार-रिश्तेदार आते, उनके ऐश-आराम के लिए भी ऐसा प्रबन्ध करते कि वे वाह-वाह करने लगते। जब कभी मैं सफर में जाता तो भी वे साथ रहते। उनके कारण पूरा लुत्फ रहता था।

लड़ाई की हलचल

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध छिड़ चुका था। इधर तीन-चार वर्षों में जब से मैंने जमींदारी का काम सँभाला था, कोई खास उल्लेखनीय बात नहीं हुई थी। जमींदारी का काम देखना, खाना-पीना, ऐश-मौज, सैर-शिकार, दोस्त-मित्रों के साथ हँसी-मजाक, अफसरों को दावत-पार्टी आदि नित्य कार्य के सिवाय और कोई बात नहीं हुई थी।

यूरोप में लड़ाई छिड़ते ही एकदम तहलका-सा मच गया। ब्रिटिश सरकार युद्ध के साधन मुहय्या करने में संलग्न हो गयी। सरकारी अधिकारी अपनी पूरी ताकत से इस काम में जुट गये। सही बात यह थी कि प्रजा के लिए राज्य के प्रति वफादारी प्रकट करने का इससे अच्छा मौका और कौन हो सकता था ?

शहर में भरती के केन्द्र खुल गये थे। जमींदारों, महाजनों से मदद ली जा रही थी। जहाँ जरूरत समझी गयी वहाँ वैसे सरकारी अफसर मौके पर पहुँच जाते थे।

हमारी जमींदारी में कलक्टर साहब स्वयं पधारे थे। उनकी नसों में देश-सेवा का खून बह रहा था। उनके साथ में परगना हाकिम भी हाजिर थे।

कलक्टर साहब ने मुझसे कहा—"राजा साहब, सरकार बहादुर आप लोगों पर पूरा भरोसा रखती है। अब यही मौका है कि आप लोग अपनी राज्यभक्ति का सबूत पेश करें। अभी तक सरकार ने पूरी शक्ति भर आप के देश की हिफाजत की है। उसकी बहबूदी में कुछ नहीं उठा रखा है। अब सरकार को आप लोगों की मदद की जरूरत पड़ी है। मुझे पूरा इतमीनान है कि आप लोग कुछ उठा नहीं रखेंगे।"

मैं—"कलक्टर साहब, यह आपके कहने की बात नहीं है। वास्तव में हम हिन्दुस्तानियों से बढ़ कर आपको वफादार प्रजा कहीं नहीं मिल

सकती। हम लोगों से जहाँ तक हो सकेगा जी-जान से सरकार बहादुर की खिदमत के लिए हाजिर रहेंगे।"

सुन कर कलक्टर साहब आश्वस्त हुए। वे कुछ बोलने ही जा रहे थे कि तब तक दीवान कुलदेव सहाय ने कहा—"साहब, हमारे सरकार कभी भी पीछे नहीं रहेंगे। इस इलाके से आप निश्चिन्त रहें। जितनी भी हो सकेगी, आपको लड़ाई के लिए मदद मिलेगी।"

कलक्टर ने दीवान साहब की बातें सुन कर मेरी ओर मुखातिब हो कर कहा—"राजा साहब, बड़ी खुशी की बात है कि आपको ऐसा लायक दीवान मिला है।"

फिर दीवानजी की ओर मुखातिब होकर कहा —"दीवानजी आपके राजा साहब का खानदान तो सदा ही राजभक्त रहा है। हमको इनका बड़ा भरोसा है।"

यह कह कर उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी आँखों में कृतज्ञता साफ झलक रही थी। उन्होंने आगे कहना जारी रखा—

"सारे हिन्दुस्तान के राजा-महाराजा, ताल्लुकेदार-जमींदार, सेठ-महाजन पूरे दिल से अपनी सरकार की मदद के लिए आगे बढ़ रहे हैं। बात यह है कि सरकार के दिल में आप लोगों के लिए सदा ही ख्याल रहा है। आप लोगों की इज्जत और मर्यादा की हम लोगों ने सदा ही हिफाजत की है। साथ ही एक बात और है। अँग्रेज सरकार ने जर्मनी से जो लड़ाई छेड़ी है, वह अपने किसी मतलब के लिए नहीं। अँग्रेजी राज में तो सूरज अस्त होता नहीं। भला ऐसे प्रतापी राज्य का कोई क्या बिगाड़ सकता है। पर सरकार यह नहीं बर्दाश्त कर सकती कि दुनिया की अमन-चैन में कोई खलल डाले। कोई ताकत या राष्ट्र अपनी ताकत के गरूर में किसी कमजोर राष्ट्र को दबाये और उस पर अपनी मनमानी लादे। जर्मनी के इसी अत्याचारी रास्ते को रोकने के लिए

ब्रिटिश सरकार ने हथियार उठाया है। उसका पक्ष न्याय का पक्ष है, और हिन्दुस्तानी सदा ही न्याय का पक्ष लेते रहे हैं।"

मैं—"यह आप इतमीनान रखें कि हम लोगों की ओर से मदद में कोई कमी नहीं रहने पायेगी।"

कलक्टर—"हमें इस बात का भी इतमीनान है कि आज जनता भी हमारे इस न्याय-युद्ध में हर तरह से हमारी मदद करेगी। इस समय हमें धन और जन दोनों की जरूरत है। जनता के लिए भी सरकार ने जो किया है, वह आज दुनियाँ में किसी भी राजा ने अपनी प्रजा के लिए नहीं किया है। अगर आज हिन्दुतान में ब्रिटिश सरकार का राज नहीं रहा होता तो अब तक तो यहाँ के बासिन्दे आपस में लड़-भिड़ कर कट मर गये होते। देश में जो बदअमली फैलती उससे प्रजा का जान-माल सदा ही खतरे में पड़ा रहता। यह अँग्रेजी राज ही की महिमा है कि शेर और बकरी एक घाट पानी पीते हैं। जब से यहाँ अँग्रेजी राज आया है, हम लोगों की हरचन्द यही कोशिश रही है कि यहाँ अमनोअमान कायम रहे, जनता खुशहाल रहे, अपनी बहबूदी करे।"

दीवानजी—"हुजूर, इसमें भी कोई शक है? गुस्ताखी माफ हो, पर इस नाचीज की बात भी सुन ली जाय। मैं खुद अपनी आँखों से देखता आ रहा हूँ कि सरकार के राज में दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की होती जा रही है। पहले यहाँ के लोग पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे। मैं खुद अपने लड़कपन की बात कहता हूँ कि दस-पाँच गाँव में खोजने पर भी कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं मिल पाता था, वह इस तरह लिखते थे कि जैसे निशानी खींच रहे हों। अब जगह-जगह स्कूल खुल गये हैं। सरकार बहादुर ने रेल बनवा दी है। डाक-तार का बन्दोबस्त कर रखा है। भले मानसों की इज्जत और जानमाल की हिफाजत के लिए पुलिस का बन्दोबस्त कर रखा है। यह क्या कम बातें हैं?"

दीवानजी और भी कुछ कहते जाने के मूड में थे, पर कलक्टर

साहब के पास ज्यादा समय नहीं था। वह उसी दिन शाम को चले जानेवाले थे। इसीलिए उन्होंने मुझसे कहा—"तो राजा साहब, आप की तहसील-वसूल चार लाख रुपयों की सालाना है। सरकार यह चाहती है कि आप पचीस हजार नकद की मदद 'वार फण्ड' में करें। इसके अलावा सरकार को आप अपने इलाके से भरती के लिए जितने सिपाही दे सकें, दें। यह बात आप समझ लें कि सरकार को इस समय आप जैसे लोगों की मदद का भरोसा है।"

पचीस हजार रुपये का नाम सुन कर पहले तो मैं सकते में आ गया। जमींदारी के ऊपर वैसे ही कर्ज चढ़ा हुआ था। खजाने में कैश के नाम पर कुछ नहीं था। आखिर इतनी बड़ी रकम एकमुश्त मैं कहाँ से दे सकूँगा? तब तक कलक्टर साहब ने फिर कहा—"राजा साहब, बोलिये हम आपके मुँह से हाँ सुनना चाहते हैं।"

यह कह कर उन्होंने मर्म-भेदी दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैं आज स्वीकार करता हूँ कि उनकी उस दृष्टि में याचना नहीं, बल्कि धमकी थी।

मैं अच्छी तरह जानता था कि बड़े-बड़े अँग्रेज अफसर मुँह से चाहे कुछ भी क्यों न कहें, पर उनके मूल में उनका दर्प ही रहता था। पर उसे बर्दाश्त करने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं था। अँग्रेजों और सरकारी अफसरों की मुलाकात करके हम लोग एक दिन भी टिक नहीं पाये होते। इस बात को हम लोग अच्छी तरह जानते थे कि जब तक हम लोग सरकारी अधिकारियों के संरक्षण में है, तभी तक अपनी प्रजा पर हम लोग शासन कर सकते हैं नहीं तो सरकारी अधिकारियों की बात टाल कर हम एक दिन भी नहीं सकते।

पर पचीस हजार रकम खासी तगड़ी थी। तिस पर पिताजी की मृत्यु के बाद जो चार-पाँच वर्ष गुजरे थे, उसमें आमदनी से ज्यादा खर्च ही मैंने किया था। कर्ज का बोझ अलग था। फिर अँग्रेज कल-

क्टर की बात टाली भी नहीं जा सकती थी। अगर जरा भी नाराज हुआ तो जमींदारी कोर्ट करा लेगा। इसके अलावा मेरी इज्जत का सवाल था। मुझे मालूम था कि मेरी ही हैसियत के कितने ही जमींदारों ने पचीस-पचीस हजार 'वार फंड' के रूप में सरकार को दिये हैं।

सब कुछ सोच-समझ कर मैंने कलक्टर साहब से कहा—"साहब, आपने 'वार फंड' के लिए जितने रुपयों की फरमाइश की है उसकी व्यवस्था मैं शीघ्र ही कर दूँगा। इसके अलावा मैं भरती के लिए जितने भी सिपाही दे सकूँगा, दूँगा। आप इसके लिए निश्चिन्त रहें।"

कलक्टर—"जितने सिपाही आप अपनी ओर से भरती करायेंगे उसके लिए सरकार की ओर से आप को तीन रुपये फी सिपाही मिलेंगे। साथ ही मैं गवर्नर साहब से आपके लिए सिफारिश करूँगा कि वह आपकी इस वफादारी के लिए आपके रुतबे के मुताबिक आपको कोई खिलअत बख्शें।"

कलक्टर साहब उसी दिन शाम को शहर रवाना हो गये। डिप्टी साहब भी उन्हीं के साथ चले गये। तहसीलदार साहब को हमारे यहाँ छोड़ गये कि वे भरती के बारे में मदद करें।

तीन रुपये फी आदमी जो उजरत मिलने वाली थी वह एक खासी रकम थी। इसके लिए मुझे कोई खास मेहनत करने की जरूरत नहीं थी। मैंने केवल गाँव-गाँव में मुनादी करवा दी कि सरकार को इस समय लड़ाई के लिए सिपाहियों की जरूरत है। सिपाहियों को अच्छी तनख्वाह, अच्छे कपड़े, अच्छा खाना मिलेगा। सरकार उनके बाल-बच्चों की हिफाजत करेगी। फौज की नौकरी ऐसी है जिसमें पेंशन भी मिलेगा।

उधर फौज में भरती के लिए बहुत कम लोग तैयार थे। यह बात जरूर थी कि कुछ लोग तैयार हो गये, पर और लोगों ने इस ओर कोई भी रुचि नहीं दिखायी। किन्तु उनके रुचि दिखाने, न दिखाने से

क्या होता था ? गाँव-गाँव के नौवजवानों की मैंने एक लिस्ट तैयार करायी और उन्हें पकड़वा कर तहसीलदार साहब के सामने पेश करवा देता। उनका नाम पता दर्ज होता जाता और वे तुरन्त ही शहर के भर्ती केन्द्रपर भेज दिये जाते।

इसी बीच शहर से कलक्टर साहब ने जो कागज पत्र भेजवाये थे उसमें एक खास पर्चा था जिसमें लिखा था कि मोहनदास करमचन्द गान्धी भी भरती में सरकार की मदद दे रहे हैं ! उन्हें सरकार पर इतना इतमीनान है कि वे उसके इस संकट से उसकी सहायता के लिए आमादा हो गये हैं।

उसके पहले कहीं-कहीं गान्धीजी का नाम सुनायी पड़ा था। मैं तो अखबार की खबरें रखता था। मुझे मालूम था कि उन्होंने निलहे साहबों के बारे में कुछ काम किया है। साथ ही दक्षिण अफ्रीका में भी उन्होंने हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ जाम किया है।

पर मुझे गान्धीजी से कोई भी आकर्षण नहीं था। मिलके साहबों के मामले में उन्होंने काश्तकारों का जो पक्ष लिया था, उससे काश्तकार काफी सरकश हो गये थे। हमारे इलाके में तो नहीं, पर बिहार में उन्होंने काम किया था। उसका असर हमारी तरफ के किसानों पर भी थोड़ा बहुत जरूर पड़ा था। मैं दिल से ऐसे आदमी से नफरत करता था जो कमीनों को भलेमानसों के मुकाबिले खड़ा करे, पर जब मुझे यह मालूम हुआ कि लड़ाई में सरकार की मदद के लिए सिपाही भरती करने के लिए वे दौरा कर रहे हैं बस मेरे मन में आया कि यह आदमी तो बड़े काम का है।

हम लोगों ने गाँवों में इस का भी प्रचार कराया कि गान्धीजी भी सरकार की मदद पर हैं। इस प्रचार का गाँव की जनता पर असर पड़ा। इससे हमें यह फायदा हुआ कि भरती कराने के सम्बन्ध में हमारी परेशानी कुछ कम हो गयी। साथ ही कलक्टर साहब ने पचीस

हजार रुपये 'वार फंड के लिए जो माँगे थे, उसकी वसूली में भी सहू-लियत हो गयी। वैसे खुशी से तो कोई कुछ नहीं देना चाता था। हल पीछे पाँच रुपये मैंने अपनी जमीदारी में लड़ाई की मदद के लिए बाँध दिये। इस तरह से खासी रकम वसूल हो गयी। इस वसूली में भी यद्यपि कुछ दिक्कत पेश हुई थी, पर एसी दिक्कतें तो जमींदारी के काम में सदा ही आती रहता थीं। इस रुपये को वसूल करने करने का तरीका मैंने यह निकाला कि लगान के रुपये किसान जमा करने के लिए ले आयें तो उनमें से हर काश्तकार से हल पीछे पाँच रुपये काट लिये जायें। जमींदारी में बसने वाले बनियों, तेलियों तथा इसी तरह के दूसरे रोज-गारियों से अलग-अलग वसूल किया गया। सब मिलाकर काफी रकम तो मैंने इस तरह वसूल कर ली। शेष मुझे अपने पास से देना पड़ा। पर वह भी अपने पास से सही माने में नहीं दिया गया। सरकार से फी सिपाही तीन रुपये भरती के जो मिलते थे वह रकम भी मैंने इसी में लगायी।। इस तरह मेरा काफी बड़ा बोझ हलका हो गया।

आदमियों को भरती कराने में भी काफी दिक्कत पेश हुई। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, कुछ आदमी तो खुशी-खुशी भरती हो गये। परन्तु दो किस्म के आदमी ऐसे थे जिनका भरती कराने में बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। एक तो वे, जो एकदम कायर और डरपोंक थे। लड़ाई में भरती होने का मतलब वे यही समझते थे कि जैसे काली की मूर्ति के सामने बकरों का बलिदान किया जाता है, उसी तरह सरकार फौजके सिपाहियों का बलिदान करेगी। देहातों में कुछ ऐसी अफवाहें भी फैली थीं कि लड़ाई में जीतने के लिए सरकार कुछ सिपाहियों को काली माई के सामने बलिदान चढ़ायेगी। जिस गाँव में मैं भरती कराने के लिए जाता था, एक हंगामा मच जाता था। खुशी से भरती होने वाले तो भरती हो जाते थे। पर डरपोंक लोगों के घर की औरतें-बच्चे रो-चिल्ला-कर वह कुहराम मचाते थे कि खुदापनाह! एक आदमी का मुझे

ख्याल है। जब प्यादे उसे बुलाने गये तो वह भाग लिकला। जाकर ईख के खेत में छिप गया। सुनकर मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने कुछ आदमियों को भेजा कि जाकर ईख के खेत को घेर लें। जाड़े की रात में वह आदमी रात भर खेत में छिपा रहा। सबेरा होने पर खेत में से खोजवा कर मैंने उसे पकड़ मँगवाया। आते ही मैंने दस-पाँच कोड़े जड़ दिये। उसकी माँ आकर रोने-चिल्लाने लगी। दो हाथ उसके शरीर पर भी मैंने फटकार दिये मगर, अफसोस यही है कि जब वह आदमी भरती के केन्द्र पर गया तो इतना छोटा निकला कि भर्ती होने की कतई गुंजाइश नहीं थी। जब वह वापस आया तो फिर मैंने दो हाथ उसे जमा दिये कि कम्बख्त इतना छोटा क्यों हुआ? मुफ्त में मेरे बनते तीन रुपयों पर पानी फेर दिया।

दूसरी तरह के आदमी कुछ सरकश किस्म के थे। उन्होंने साफ-साफ यह यह कह दिया कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, इस लड़ाई भरती नहीं होंगे। उनपर मैंने हर तरह की सख्ती बरती, परेशान किया, थानेवालों ने खबर ली, पर वे कुछ इस विद्रोही किस्म के थे कि टस से मस नहीं हुए।

उसमें से एक आदमी की याद मुझे ताजा है। उसका नाम रोपन था। उम्र उसकी चालीस के आसपास थी। लम्बा चौड़ा शरीर, खम्भे की तरह पैर, हाथी की सूँड की तरह लम्बी बाहें। बड़ा ही सरकश आदमी था। अब तो मैं कह सकता हूँ कि वैसे सरकश आदमी कम ही होंगे।

बाद में उसने मेरे इलाके में वह तूफान खड़ा किया कि कुछ कहने की बात नहीं। आगे जाकर उसका हाल सामने आयेगा।

हाँ, तो मैंने रोपन को पकड़ मँगवाया। तहसीलदार साहब भी मेरे साथ ही थे। रोपन ने इनकार किया—"सरकार, आप लोग चाहें और किसी काम के लिए कहें, मैं जान से हाजिर हूँ, पर मैं लड़ाई में भरती नहीं हो सकता।"

हम लोग—"तमीज से बात करना सीखो। लड़ाई में क्या एक-दो आदमी का काम है। सरकार पर आज भीर पड़ी है, उसके राज में रहते हो। तुम उसके काम में नहीं आओगे तो कौन आयेगा? बहर-हाल चाहे खुशी से चाहे नाखुशी से, तुम्हें भरती होना ही है।"

उसके इनकार से मुझे यह डर था कि कहीं और लोग उसकी देखा-देखी बहक में न आ जायँ।

रोपन—"सरकार, हम लड़ाई से डरते नहीं। हमारे देश की खातिर लड़ाई लड़नी होती तो सबसे पहला मैं होता जो आगे आता। अंग्रेज सरकार हमारी सरकार नहीं है।"

ऐसी गुस्ताखीकी बातें हम लोगों ने पहले कभी नहीं सुनी थीं। सुनकर पहले तो अचम्भे में हम लोगों एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। पर फिर क्रोध से हम लोग तिलमिल उठे। तहसीलदार साहब ने उठकर उसे कोड़े से पीटना शुरू किया। जब बेदम हो गया तो छोड़ा। होश में आने पर फिर जब हम लोगों ने पूछा तो उसी तरह उसने इनकार किया।

रात भर जाड़े में उसे बाहर रखा गया। बीच-बीच में ठंडा पानी अलग से छिड़कवाता रहा, पर उसने हाँ नहीं भरी। मेरी जिन्दगी में वह पहला आदमी था जिसके सामने मुझे हार माननी पड़ी थी।

रोपन से मैं हारा

जैसा कि मैं लिख चुका हूँ अपनी जिन्दगी में पहली बार मुझे हेठी देखनी पड़ी थी रोपन को फौज में भरती कराने के मामले में। उसकी अकड़ और मगरूरी के बारे में पहले भी थोड़ी-बहुत भनक मेरे कान में पड़ी थी। मैंने अपने मनमें उसी क्षण यह निश्चय कर लिया कि इस रोपन को बर्बाद करके ही दम लूँगा।

रोपन हमारी जमींदारी में सात बीघे जमीन का काश्तकार था। जमीन अच्छी दोमट थी। गंगबरार जमीन ठहरी। बिस्सा मन जौ, गेहूँ, चना लगता। दो फसला जमीन थी। खरीफ की फसल में उसमें बाजरा, मूंग, मकई, ज्वार, साँवाँ और तिल वगैरह होता। अरहर भी उसमें उपजती। रबी में गेहूँ, जौ, चना, सरसों आदि उपजती। एक साधारण परिवार के खाने-पहनने भर अनाज उसमें उपज जाता। रोपन छोटी कौम का आदमी था। अपने हाथ से खेत जोतता। उसके घर की स्त्रियाँ भी खेत में काम करतीं। बच्चे गाय-भैंस चराते। सबे मिला कर खाता-कमाता था। मोटे अनाज और मोटे कपड़े का उसे कभी अकाज नहीं रहा।

नान्ह कौमों में एक खास बात देखी है। वह अब भी उनमें बरकरार है—अपना काम अपने हाथ से करने में वे अपनी इज्जत और अपनी शान समझते हैं। मैंने ऐसे कितने घर बड़ी जातियों के देखे हैं जिनके पास अच्छी जमीन काफी रही है पर सारा काम नौकरों-चाकरों पर छोड़ देने के कारण दाने-दाने को मुहताज रहे हैं। वे हल की मूठ नहीं पकड़ सकते, उनके जात जाती है। दस जात-भाइयों में उनकी हँसाई होती है। नौकरों-चाकरों के बल खेती-बारी करते हैं। इससे कोई भी काम उनका ताव पर नहीं हो पाता। इस बारे में मुझे एक कहावत याद आ रही है। इन बड़ी कौमों की ढीली-ढीली खेती को लक्ष्य कर हमारे पिताजी के दीवान मुंशी हरदेव सहाय एक कहावत कहते थे—

खेती-बारी, बिनती औ घोड़े की तंग।
अपने हाथ सँवारिये, तौ जिय रहै अनंद।

बड़ी जातियों के मर्द तो थोड़ा बहुत काम कर भी कर लेते हैं। अब तो खैर जैसे जमाना पलट गया, वैसे इस बात में भी जमाना पलट रहा है। फिर अब अपने हाथ यदि ये बड़ी कौम के लोग काम

न करें तो अब तो भूखों मरने की नौबत आ गयी है। ये रजील कौम वाले तो सिर पर चढ़ते जा रहे हैं। इसलिए मर्द अपने हाथ से काम कर रहे हैं। पर उनके घर की औरतें अब भी अपने हाथ से कोई काम नहीं कर सकतीं। मैं उनको दोष नहीं देता। दोष इस ज़माने का है कि अब बड़े-बड़ों की इज्जत भी नहीं निबह रही है। अब ये छोटी रजील न अपनी इज्जत रखते हैं और न किसी भले मानस की इज्जत रहने देंगे। बात-बात में बराबरी चाहिये।

तो रोपन के घर की औरतें भी काम-काज में जुटी रहती थीं। उसके परिवार में कुल मिलाकर अधिक से अधिक आठ-दस आदमी रहे होंगे। उतनी जमीन में उसका गुजर हो जाता था। और जब छोटों के पेट में अन्न का दाना पड़ा रहे तो वे अपने सामने किसी को गिनते नहीं। तब यह बात नहीं थी। हमारे नाम से ही थर्राते थे। एक अकेले रोपन ने ही शुरू-शुरू में बग़ावत की थी। और उसके बाद कुछ एसी हवा बही कि मुझे अपनी तमाम जिन्दगी इसी संघर्ष में गुजारनी पड़ी। तमाम जिन्दगी में इन सरकश किसानों को सर करने में लगा रहा।

सरकार की छत्र-छाया मेरे ऊपर थी। लीख-लाख मैं चाहे जो भी करूँ, कानून मेरी रक्षा करने के लिए तैयार रहता था। सरकारी अधिकारी-अफसर मेरी पीठ पर थे। अंग्रेजी राज रहा तब भी यही बात थी, कांग्रेसी राज आया तब भी यही बात है। पर एक बात में स्पष्ट रूप से कह दूँ। बहुत गौर से मैंने देखा है। धीरे-धीरे हम लोगों—राजा, रईसों, जमींदारों, ताल्लुकेदारों की हालत में गिराव ही आता गया। हम लोगों का मनोबल क्षीण होता गया और किसानों-मजदूरों का सितारा ऊँचा उठता गया। अब तो भविष्य का खाका देखकर रूह कब्ज हो जाती है।

रोपन की सात बीघे की जो काश्तकारी थी, उसमें चार बीघे उसकी शरहमोअइयन जमीन थी और बाकी तीन बीघे दखिलकारी जमीन

थी। अब तो जमीन की सारी नवैयत ही बदल गयी। शरहमोअइयन जमीन पर काश्तकारों का पूरा हक था। उसकी लगान नहीं बढ़ सकती थी। उसपर पेड़-पालो; बगीचा, घर-मकान, काश्तकार चाहे जो बनाये, जमींदार उस पर कोई एतराज नहीं कर सकता था। पर दखिलकारी जमीन के लिए यह बात नहीं थी। किसानों का हक उस पर बहुत साधारण था। उस पर वे बाग नहीं लगा सकते थे। उसपर मकान-घर खड़ा नहीं कर सकते थे। जमींदार उस पर कुछ कायदों के अन्तर्गत लगान भी बढ़ा सकता था। साथ ही उस जमीन से कुछ कानूनी आधार पर, काश्तकारों को बेदखल भी कर सकता था।

अपनी दखिलकारी जमीन में रोपन ने एक मँड़ई खड़ी कर ली थी खेत अगोरने के लिए। मैं तो बहाना ढूँढ़ रहा था उस जमीन से उसे बेदखल कराने का। इसके साथ ही मैंने और भी कई किसानों को बेद-खल का मंसूबा बाँधा। बात यह थी कि रोपन की सरकशी से कुछ किसान उभड़ रहे थे। वे हमारे कारिन्दों की अवहेलना कर बैठते। छिपे-खुले यह बात भी कह बैठते थे कि जमींदार को अपने लगान से मतलब है न कि वह और मामलों में दखल दें ?

जो जमींदार रह चुके हैं या जिन्होंने जमींदारी में किसी अच्छे ओहदे पर काम किया है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि जमींदारी रोब-दाब की चीज रही है। अगर दबाकर न रखा जाय तो किसानों-काश्तकारों को उभड़ते देर ही कितनी लगती है।

रोपन और दूसरे गावों के कुछ किसानों के सिर उठाने की खबरें बराबर आ रही थी। उनका दमन करना जमींदारी के हित के लिए अनिवार्य हो गया था।

मैं यह अच्छी तरह जानता था कि रोपन ने फौज में भरती होने से जो इनकार किया था, उसके पीछे कोई राजनैतिक चेतना नहीं थी। और न तो तबतक उसका किसी दल अथवा संघ से कोई सम्बन्ध ही हुआ

था। हाँ, इतनी बात जरूर है कि शुरू से ही वह आदमी कैंड़े का था। साथ ही दस आदमी उसकी बात सुनते थे, उसके कहे में रहते थे। उसके यहाँ उठना-बैठना रहता था। हमारी पूरी जमींदारी में उस समय तक कहीं भी कोई राजनीतिक चेतना नहीं थी। कांग्रेस का नाम जरूर मैंने सुना था। पर यह मैं अच्छी तरह जानता था कि उसका नाम अखबारों के नियमित पाठकों तक ही सीमित था। गाँव में तो कहीं कोई अखबार आता ही नहीं था। यही हाल क्रान्तिकारियों के बारे में थी। बंगाल को लार्ड कर्जन ने दो भागों में बाँट दिया था, उसको लेकर वहाँ पर काफी उग्र आन्दोलन चला था। उस समय तो मैं बारह-चौदह वर्ष का लड़का था। मुझे कहाँ समझ कि ये बातें क्या हैं और इनका क्या महत्व-मूल्य है? हाँ, पिताजी के पास जो बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी आते थे, उनमें से कुछ इसका जिक्र करते थे। मैं भी दिलचस्पी के साथ सुनता था। पिताजी सुनकर गुस्से में आग बबूला हो जाते थे। कहते थे—"इन कम्बख्तों को तो जिन्दा ही आग में भून देना चाहिये। उन सबों को कुत्ते की मौत मारना चाहिये।" खैर।

मेरे पास लगातार यह खबरें आ रही थी कि रोपन ने आदमियों को बहकाना शुरू कर दिया है। यह भी समाचार मालूम हुआ कि वे जमीदारी में किसानों पर पुश्त दरपुश्त से जो नजर-नजराने चले आ रहे हैं, उसके विरोध में वे भी वह आवाज उठा रहा है। यह भी मैंने सुना कि हरी-बेगारी के खिलाफ भी उनमें कुछ सुनगुन हो रही है।

इसी बीच मेरी छोटी बहन की शादी पड़ी। यह मेरी सबसे छोटी बहन थी। बड़ी बहन का विवाह पिताजी स्वयं अपने जीते जी कर गये थे।

हस्बमामूल विवाह के मौके पर जमीदारी के लोगों पर मैंने टैक्स

लगाया। आटा पीसने के लिए उनके घरों में गेहूँ-चना भेजवा दिया गया। नौकर-चाकर-बेगार आदि की पकड़-धकड़ होने लगी।

इस तरह के इन्तजाम में मैं मशगूल था कि एक प्यादे ने आकर खबर दी—"सरकार, महीपतपुर के असामियों ने बेगार में आने से इन्कार कर दिया है। रोपन उनका सरगना बना हुआ है। उन सबों ने यह कहा है कि अब हम जमींदारी का कोई भी काम नहीं करेंगे। जमीन जोतते हैं तो लगान देते हैं। कोई मुफ्त में जमीन नहीं मिली हुई है।"

इज्जत का मौका था। मेरे मन में यह भी आशंका थी कि अगर इस समय जोर-दबाव डालता हूँ और रोपन इनकार करता है और शोरगुल बढ़ता है तो दस नातेदार-रिश्तेदार आने वाले हैं, अगर उनके कानों में बात गयी कि यहाँ के असामी बेगार देने से इनकार करते हैं तो उनके बीच मेरी हँसी होगी—ऐसा भी दम नहीं कि सबको पीस कर रख दें।

इसलिए मैंने सोचा कि रोपन को बुलाकर समझा दूँ। भय से तो वह मानेगा नहीं। इस समय उसे फुसलाकर काम निकालाना है, फिर इस विवाह से फुरसत पाते ही वह सबक सिखाऊँगा कि वह भी याद रखेगा कि राजा रिपुमर्दन की हुकुम उदूली करने का क्या फल होता है।

मैं खुद महीपतपुर गया। रोपन और उसके साथ जितने सरकश आदमी थे, मैंने सबको बुलाया और पूछा—"क्यों, तुम लोगों की क्या मंशा है? आखिर जमीदारी के जो नियम-कायदे चले आ रहे हैं, वे कोई हमारे-तुम्हारे चलाये नहीं हैं और उसका निर्वाह भी कोई आज से नहीं हो रहा है। यह तो आदिकाल से चला आ रहा है।"

"साथ ही तुम लोग हमारी जमीदारी में बसते हो। हमारे खेत जोतते हो। हमारी गोचर भूमि में अपने मवेशियों को चराते हो।

हमारे तालावों, कुओं का पानी अपने काम में लाते हो, फिर इस तरह हमारे खिलाफ जाकर तुम कहाँ तक निबहोगे। एक बात मैं तुम लोगों को और बता देना चाहता हूँ कि राजा रिपुमर्दन से विरोध करके इस धरती पर तुम्हारा कहीं भी निर्वाह नहीं होगा।"

जाते ही मैंने धमकी देना इसलिए शुरू किया कि मैंने सोचा, मेरे सामने किसी की जबान नहीं खुलेगी। फिर अकेला रोपन क्या करेगा।

मेरी बातें सुनकर और सब जैसे सन्नाटे में आ गये, पर यह सन्नाटा क्षण भर के लिए ही था। उनमें आपस में कानाफूसी होने लगी। जैसे वे मौन रूप से मेरी बातों का विरोध कर रहे हो।

और सब तो कुछ ताकते रहे, पर रोपन ने कहा—"सरकार, यह बात सही है कि हम लोग आप की जमीदारी में बसते हैं। आपकी जमीन जोतते हैं, पर उस जमीन का लगान भी तो हम आप को चुकाते हैं।"

यद्यपि मैंने किसानों से कभी भी बहस नहीं की थी। मामूली आदमियों से बहस करना मेरी शान के खिलाफ था। इसके सिवा यह भी है कि किसानों-काश्तकारों के मुँह लगने से अपनी ही मरजाद घटती है। उनका हौसला बढ़ता है। पर उस दिन की बात दूसरी थी। वह मौका ही ऐसा था कि उनसे बहस किये बिना और चारा ही नहीं था। मैंने कहा—"लगान तो तुम जमीन का देते हो जिसे जोतते हो, और इसके सिवा जमीन तो मेरी ही है। तुम कहाँ तक निबहोगे? दूसरी बात यह है कि जो परम्परा से चला आ रहा है उसी को करने के लिए मैं कह रहा हूँ। कोई नयी चलन तो मैं चला नहीं रहा हूँ।"

यह कह कर मैंने उनकी ओर नजर डाली। देखना था कि मेरी बातों का उन पर कैसा असर पड़ रहा है। मैंने आगे कहा—

"हरी-बेगारी लेना जमींदारी का नियम है। विवाह-शादी, मरनी-करनी, हाथी-मोटर आदि की खरीद के समय सदा से टैक्स लगता आया है। यह जमींदारी का हक है। उससे तुम लोक इन्कार नहीं कर सकते। अनाज पीसने के लिए सदा से ही तुम लोगों के यहाँ आता रहा है। यह भी कोई नयी चलन नहीं है। ऐसे मौकों पर जमींदारी के वासिन्दों से काम कराया जाता रहा है और वह तुम लोगों को करना ही पड़ेगा।"

रोपन——"यह बात जरूर है कि आजतक हम लोग हरी-बेगारी, टैक्स- कर देते आये हैं। बेगार में अपना खाकर दिन का दिन और रात की रात जमींदारी का काम करते रहे हैं। असाढ़ में हम लोगों के खेत उखड़ जाते रहे, पर जमींदारी को बेगारी देते रहे। कातिक में हम लोगों की बोअन पिछड़ जाती रही, पर जमींदारी के खेतों की बोअन हम लोग कराते रहे। इसी तरह अपना हर तरह से नुकसान सह कर भी बेगार देते रहे। पर अब हम लोग बेगार और इस तरह के टैक्स नहीं देंगे। जो सरकारी लगान है उसे अदा करेंगे, इसके आगे नहीं।"

रोपन की बात में सरासर गुस्ताखी थी। अगर पहला मौका रहा होता तो पीटते-पीटते उसकी खाल उधेर कर रख दिये होता। पर वह मौका ऐसा था कि न बिगड़ते बनता था और न चुप लगाते। एक तरफ कूँआ था, तो दूसरी तरफ खाईं थी। मैं गुनान करने लगा—'अगर इस गुस्ताखी को तरह दे जाता हूँ तो जमींदारी-रोब में बट्टा लगता है। सदा के लिए ये हमारे हाथ से निकल जायँगे। अकेले इसी गाँव की बात नहीं है। किसी भी बात की एक लहर चलती है। अगर यह लहर उठ खड़ी हुई तो जमींदारी के बाहर दूसरे गाँव भी इसी तरह सर उठाते चले जायँगे। फिर तो न हुई जमींदारी, किसी बनिये की दुकान हुई कि हर ऐरा-गैरा जो आया उसे बाबू-भैया कहो, चिरौरी-मिनती करो।

दूसरी तरफ अगर इस समय कड़ा पड़ता हूँ तो यह दो कौड़ी का

रोपन भी कुछ इस धातु का बना है कि टस से मस नहीं होगा, बल्कि इस समय उसका जो रुख है, उससे तो यही अन्दाज मालूम होता है कि हंगामा खड़ा कर लेगा। नंगा आदमी है। नंगा न अपनी रखता है न दूसरों की रखता है। इसके पास क्या है! दो कौड़ी की इसकी इज्जत ठहरी! इसकी क्या इज्जत बिगड़ेगी। दाग़ तो हर हालत में मुझ पर लगेगा।

मैंने देखा कि इस तरह धमकाने से इन पर असर पड़ने वाला नहीं है। अब किसी दूसरी ही तरकीब से इन्हें सर करना होगा।

रोपन को मैंने अलग बुलवाया। उठ कर वह मेरे पास आया। उसे लेकर मैं छावनी के भीतर चला गया। मैंने उससे कहा—

"देखो, इस झमेले में पड़ने से तुम्हें क्या लाभ है। मैंने तो अपने कारिन्दों को पहले ही कह दिया है कि रोपन का ख्याल रखना। उससे किसी तरह की बेगारी न लेना। फिर तुम इन सबको क्यों बहकाते हो? तुम्हारे ही हित की बात कह रहा हूँ। तुम आनन्दसे से पड़े रहो। पर इन सबके बीच में न पड़ो। और देखो, वह बगीचे के पास वाली जमीन तुम जोत लेना।"

सुन कर वह कुछ देर तक चुप रहा; फिर उसने कहा—"सरकार यह कैसे हो सकता है? बगीचे के पास वाली जमीन तो हमारी जोत में सदा से ही रही है। परसाल आपके कारिन्दों ने निकाल लिया था। पर वाह बात तो दूसरी है। मैं ऐसा किसी भी हालत में नहीं कर सकता कि किसी तरह का फायदा अपने लिए लेकर अपने इतने साथियों को परेशान होने के लिए छोड़ दूँ।"

उसके बात करने का ढंग सरासर गुस्ताखी से भरा हुआ था। मुझे क्रोध आ गया। कड़क कर मैंने कहा—

"तुम्हे बरबाद होना है तो हमारे बीच में आओ। राजा रिपु-

मर्दन के सामने तो बड़ी-बड़ों की हेकड़ी मिट गयी है, फिर तुम किस खेत की मूली हो।''

उठकर रोपन खड़ा होगया और एक तीव्र नजर से उसने मेरी ओर देखा। सच कहता हूँ उसकी नजर की उग्रतासे क्षण भर के लिए जैसे मैं सहम उठा। जब वह वहाँ से चला गया तो मुझे जैसे होश में आया। क्रोध के मारे मेरे तन में आग लगी हुई थी। उसी क्षण मैंने यह संकल्प कर लिया कि अगर महीपतपुर को नेस्तनाबूत नहीं कर दिया तो राजा रिपुमर्दन के नाम से कोई कुत्ता पाल ले और इस रोपन की तो बोटी-बोटी कटवाकर चील-कौवों को खिलवा दूँगा।

बहन के व्याह से निवृत होने के बाद मैंने महीपतपुर के सभी काश्तकारों पर बेदखली का दावा कर दिया। हमारे यहाँ नियम था कि काश्तकारों को लगान की रसीद तत्काल नहीं दी जाती थी। एक बार जब वसूली हो जाती थी, तब रसीद काट दी जाती थी। कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि दो-तीन साल तक रसीद नहीं काटी जाती थी। हाँ, यह बात जरूर थी कि लगान वसूल करने में किसी तरह की ढिलाई नहीं की जाती थी। इसके लिए चाहे जो भी सख्ती बरतनी पड़े, वह अमल में लायी जाती थी।

महीपतपुर के काश्तकारों को भी तमाम लगान वसूल हो चुकी थी। पर उनको दो वर्ष तक की रसीद देनी बाकी थी। इसी आधार पर बेदखली की नोटिस तामिल कर दी गयी।

इसके सिवा उन्हें बतला दिया गया था कि जल में रहकर मगर से बैर करने का क्या नतीजा हासिल होता है। जमींदारी में रहकर, जमींदार के खिलाफ आवाज़ उठाने से क्या भुगतान देना पड़ता है इसके लिए वे तैयार रहें। सबका थाली-लोटा बिकवा कर दर-दर भीख मँगवा कर छोड़ूँगा।

इधर मुकदमा चल रहा था। उधर एक ऐसी घटना घट गयी कि

उसके स्मरण से आज भी मेरा मन लज्जा और ग्लानि से भर उठता है। उस घटना की बात सोचने से भी आज भी मन सिहर उठता है। पर मैं यहाँ इसीलिए लिख रहा हूँ कि इस परम गोपनीय कागज पर और किसी की नजर तो पड़ेगी नहीं। दूसरे, जब मैं अपनी जिन्दगी का लेखा-जोखा ले रहा हूँ तो जो कशमकश आये हैं, जो संघर्ष गुजरे हैं, जितना पानी इस धरती पर से बहा है, उसका उल्लेख क्यों न कर दूँ।

महीपतपुर गाँव, मेरे सदर मुकाम से करीब एक कोस की दूरी पर था। वहीं पर मेरी एक छावनी बनी बनी हुई थी। इधर महीपतपुर जाना-आना मेरा अक्सर हो रहा था। रात को वहीं पर रह जाता था। कभी घर आ जाता था। पर वहाँ रहने में एक और आकर्षण आ गया था।

उस गाँव में एक ब्राह्मण परिवार था। परिवार क्या, एक विधवा और उसका तीन वर्ष का लड़का था। उस ब्राह्मणी का पति मेरे यहाँ प्यादा रह चुका था। दो साल हुए उसका इन्तकाल हो चुका था।

ब्राह्मणी का घर मेरी छावनी के करीब था। उस पर मेरी नजर पड़ी। मेरी जिन्दगी में सैकड़ों औरतें गुजरी हैं, पर उस औरत की सज-धज मेरी आंखों में खुभ गयी। मैं उसके रूप पर मोहित हो गया। उसे पाने के लिए मैंने तरकीबें रचनी शुरू कीं। वास्तव में यह कोई नयी बात नहीं है। जो खानदानी रईस हैं, वे इस बात को जानते हैं कि रईसों की जिन्दगी में उसका कितना महत्व रहा है। इससे शायद ही कोई बच सका हो। आम जनता की बात मैं नहीं करता। मैं तो अपने ऐसे की बात कर रहा हूँ।

माने-माने मैंने अपनी बात उस पर प्रकट करायी। पर लगता है कि महीपतपुर के दान-पानी में ही गुश्ताखी और बदअमली का कुछ

ऐसा बीज समाया था कि हर आदमी में उसका असर मौजूद था। आज भी मेरा वह अनुमान गलत नहीं निकला।

जब प्रलोभन से काम नहीं चला तो एक दिन पहर रात गये मैं अपने एक विश्वस्त प्यादे के साथ उसके घर गया। मन में कुछ आशंका तो जरूर थी। केवल इसीलिए कि महीपतपुर गाँव वालों के दिल से मेरा भय निकला जा रहा था। नहीं तो पहले का समय रहा होता तो मैं एलानिया चला जाता या बहुत होता तो दिखावे के लिए परदा रखता।

उसके आँगन में एक तरफ चहारदीवारी थी। स्कीम यही थी कि हम दोनों उसी दीवार को छलांग मार कर भीतर चले जायँ और वह चाहे जिस तरह से माने उसे सर कर दें। केवल यही व्यवस्था रखें कि वह शोरगुल न करने पाये। उसके अलावे मुझे इस बात का अनुभव था कि भले घरों की औरतें ऐसे मौकों पर शोरगुल नहीं करतीं। जानती हैं कि अगर बात खुली तो फिर कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहेंगी। जाति से जायेंगी। इसलिए पहले तो विरोध करती हैं, पर जब हार जाती हैं तो चुपचाप आत्म-समर्पण कर देती हैं!

पर वह विधवा कुछ दूसरे ही नस्ल की थी। जैसे ही हम लोगों पर उसकी नजर पड़ी, उसने चिल्लाना शुरू किया। फिर तो बाहर दरवाजे पर धक्के पड़ने लगे। क्षण भर में दीवाल फाँद कर दर्जनों आदमी आँगन में आ गये। उनमें सबसे आगे रोपन था। इस आपा-धापी में मेरा प्यादा तो बाहर निकल गया पर मैं पकड़ लिया गया। वह क्षण मेरे लिए रौरव नरक की ज्वाला से भीषण हो उठा। मेरे ऊपर चारो ओर से प्रहार होने लगा। इतनी बात जरूर मेरे कान में गयी कि कोई कह रहा है—देखो हाथ-पैर न टूटने पाये। जगह-जगह थूर दो कि जोड़ों में सदा दर्द बना रहे।' फिर तो मैं बेहोश हो गया।

जब मुझे होश आया—मैं छावनी पर था। मेरी बेहोशी में ही मुझे उठाकर वे सब वहाँ रख आये थे। बाद में प्रबन्ध करके मैं सीधे शहर गया। शहर में मैंने यही कहलवाया कि भूतों का खेल है। जमींदारी के गाँवों में भी यही प्रचार हुआ। उनमें अधिकांश लोगों ने तो यह बात मान ली, पर मैं जानता हूँ कि भीतर ही भीतर सच्ची बात उनके कानों तक पहुँच गयी थी। पर खुलेमुँह कोई यह बात नहीं ला सकता था। स्वस्थ होने में मुझे महीना भर लग गया था।

फिर तो आने पर महीपतपुर वालों से जो संघर्ष शुरू हुआ, वह आज तक चालू है।

सजा करा ही दी

लड़ाई अपने उग्रतम रूप में चल रही थी। जैसे जंगल में सूखी घास पर कहीं से एक चिनगारी पड़ती है और वह चिनगारी भीषण दावाग्नि के रूप में परिणत हो जाती है, चारों ओर हाहाकार मच जाता है, अग्नि की प्रबल ज्वाला, लगता है, जैसे अपनी लपलपाती जीभ से सारी दुनियाँ का सफाया कर डालेगी, धरती का अस्तित्व जैसे खत्म करके ही वह महानाशी दावाग्नि समाप्त होगी, उसी तरह वह महायुद्ध प्रारम्भ में एक चिनगारी के रूप में प्रकट हुआ था और फिर देखते-देखते सोरे यूरोप को अपनी लपेट में ले लिया। फिर वह विनाश-लीला सारी दुनियाँ में फैल गयी। दुनियाँ का कोई भी राष्ट्र नहीं रहा जो इसकी सत्यानाशी आँच से अछूता बचा रहा हो।

उस युद्ध में हमारे ऐसे राजा-रईसों के लिए जैसे नींद हराम हो

गयी थी। भविष्य की चिन्ता हमें खाये जा रही थी। हम तो इस बात पर भी आमादा थे कि इस युद्ध में हिन्दुस्तान को सारी जनता को झोंक देने देने पर भी अगर अँग्रेजों को जीत हासिल हो सके तो भी सस्ती ही समझनी चाहिये। कारण कि हम लोग इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि अंग्रेजी राज में ही हम सुरक्षित हैं। हमारी जमीन जायदाद, धन-दौलत, इज्जत-आबरू, मान-प्रतिष्ठा, पद-मर्यादा सब अंग्रेजी राज में ही सुरक्षित हैं। जनता को हम लोग तभी तक दबा कर रख सकेंगे, जब तक उसे कुचलने वाला शासन रहे। यह बात मैं तब भी महसूस कर रहा था, कुछ अपने अनुभव से और कुछ दुनियाँ का इतिहास पढ़ने-समझने से। अब यह बात और भी साफ हो गयी है। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इस कांग्रेसी राज में अब भी शासन की सहानुभूति हमारे जैसे राजा-महराजों, सेठ-साहूकारों के प्रति है। इसका कारण भी स्पष्ट है। शासन में सभी तो अपने ही वर्ग के आदमी हैं। अब यह कैसे हो सकता है कि मेरा बेटा बीरू हमारे ही हितों के खिलाफ जाय। यह बात जरूर उसने ठीक कही है कि अब हम शत प्रतिशत अपने ही लाभ की बात नहीं कर सकते। कुछ जनता के हित के लिए करना ही पड़ेगा। क्योंकि अगर जनता को हम इस तरह भुलावे में नहीं रखेंगे तो उसके असन्तोष की उग्रता में और भी जल्द भस्म जायँगे।

इसलिए हम राजा-रईस, जमींदार-साहूकार आदि प्राण-पण से अँग्रेजी सरकार की जन-धन से मदद कर रहे थे, और जो सरकार की मदद कर रहे थे उनकी ओर हम अपनत्व की भावना से देखते थे, उन्हें अपना समझते थे।

हमारे देश में उस समय कुछ ऐसे लोग थे जो चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार के संकट से फायदा उठाया जाय। उनमें एक महाराष्ट्री व्यक्ति थे। उनका नाम बालगंगाधर तिलक था। उस समय लोग उन्हें आदर-

श्रद्धा से 'लोकमान्य' तिलक कहते थे। तिलक को साधारण जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। कांग्रेस में एक प्रबल दल उनका समर्थक हो गया था। उसे लोग गरम दल कहते थे। गरम दलवालों में, सही अर्थ में पूछा जाय तो वे लोग थे जिन्हें मैं सही अर्थों में राजनीतिक व्यक्ति मानता हूँ। वे सच्चे अर्थों में पालीटिशियन थे। यह बात जरूर है कि वे हमारे तन्त्र के दुश्मन थे। पर दानेदार दुश्मन की तारीफ तो करनी ही पड़ेगी। उन्हीं लोकमान्य तिलक ने जनता को नारा दिया—"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम इसे प्राप्त करके ही रहेंगे।"

दरअसल, मैं खुद इस नारे से भयभीत था। मैं जानता था कि अगर गरमदल वालों के हाथ में कांग्रेस आ जाती है और जनता को उसने जाग्रत कर इस समय ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लोहा उठा लिया तो इस लड़ाई में अँग्रेजी सरकार चाहे जीते चाहे हारे, यह बात दूसरी है, पर हिन्दुस्तान से तो उसका नामोनिशान मिट ही जायेगा। अँग्रेजी सरकार उस समय जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों के साथ मरणान्तक युद्ध में फँसी हुई थी। वैसी हालत में तीस करोड़ की आबादी वाला देश उसके खिलाफ उठ खड़ा हुआ होता तो उसी क्षण उसकी कमर टूट गयी होती। तिलक और उनके अनुयायी यही चाहते थे।

ब्रिटिश सरकार ने उनके इस रुख को समझ लिया था। तिलक को गिरफ्तार करके बर्मा के मांडले जेल में बन्द कर दिया था। वह आग भीतर-भीतर सुलग रही थी। किन्तु गांन्धीजी के अँग्रेज सरकार के पक्ष में आ जाने से वह आग कुछ शान्त हो रही थी। गांधीजी बड़े कैंड़े के आदमी रहे हैं। गांधीजी के प्रति मेरे मन में उसी समय जो आस्था उत्पन्न हुई, वह अन्त तक बनी रही। बीच-बीच में उन्होंने कुछ ऐसे काम जरूर किये जो मुझे नागवार लगे थे,

परन्तु आज उनकी पूरी परम्परा पर दृष्टिपात कर मैं कह सकता हूँ कि अगर गांधीजी बीच में नहीं आये होते तो आज यह जनता हमारे सिर पर होती। गांधीजी की जो सबसे बड़ी गलती मैं मानता हूँ, वह यह है कि उन्होंने जनता को उभारा, उसमें निर्भीकता की भावना भरी, पर साथ ही उन्होंने एक काम की बात यह की कि राजनीति और धर्म का अंकुश लगाया। जनता की शक्ति उन्होंने बढ़ायी तो उसे अपनी शक्ति का उपयोग करने से रोका भी। नहीं तो आज हमारे वर्ग का नामोनिशान भी इस समय नहीं होता।

हमारे देहातों में भी धीरे-धीरे कुछ लोगों में अँग्रेजी सरकार के प्रति असन्तोष की भावना व्याप्त हो रही थी। उनमें कुछ ऐसे थे जो खुलेआम इस बात की कामना करते थे कि अँग्रेजों की छाया इस देश से उठ जाय।

जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, हमारी जमींदारी में कुछ किसान सरकश हो रहे थे। वे अपना सर उठा रहे थे। हालाँकि उन्हें दबाने के लिए मै हर तरह से प्रयत्न करता था, पर भीतर ही भीतर उनका संगठन दृढ़तर होता जा रहा था। पहले तो केवल महीपतपुर वालों ने रोपन के बहकाने से बदअमली शुरू की थी। जैसा कि मैं पहले भी लिख चुका हूँ उसका सम्बन्ध किसी भी राज-नीतिक संस्था से तब तक नहीं था। परन्तु बाद की घटनाओं से मुझे ऐसा आभास मिलने लगा कि इनके पीछे कोई सुलझा हुआ मस्तिष्क काम कर रहा है। रोपन की गति विधि भी पहले से एक दम बदल गयी थी। पहले उसमें केवल सरकशी और उद्दण्डता थी, वह उसमें जन्मजात थी। पहले-पहल जब वह मेरे टक्कर में आया था उस समय तक केवल अपने स्वभाव के कारण ही उसने ऐसा किया था। परन्तु बाद में उसके कार्यों से मुझे ऐसा पता चला कि इसमें तबदीली हो रही है। उसका असर हमारे लिए खतरनाक होगा।

जिस समय मैंने महीपतपुर वालों पर बेदखली का मुकमा चलाया था और उसके साथ ही मेरे साथ जो दुर्घटना घट गयी थी, उसके सिल-सिल में जब मैं बनारस में अपना इलाज करा रहा था, उसी समय मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि समय पाकर महीपतपुर वालों के बच्चे-बच्चे को भीख न मँगा दिया, तब तक चैन नहीं लूँगा। यह निर्णय जरूर मैंने अपने पहले के अनुभवों के आधापर किया था। पर बाद में मुझे अवगत हुआ कि अब पहले वाली बात नहीं रह गयी है।

रोपन अब खुले आम मेरे खिलाफ प्रचार करता था। इलाके के सारे गाँवों के लोग भीतर ही भीतर उसकी इज्जत करते थे, यह मैं निश्चित रूप से जानता था। पर मेरे भय के मारे अन्य गाँव वाले खुले रूप में सामने नहीं आ रहे थे। फिर भी मुझे यह आशंका जरूर हुई कि अगर इस आग को अभी दबा नहीं दिया गया तो एक दिन सारे इलाके में फैल जायेगी।

बाहर की दुनियाँ से भी रोपन का सम्बन्ध हो रहा था। उसकी हर एक गति-विधि पर मैं नजर रखता था। स्कूल में पढ़ा लिखा तो वह एक दिन भी नहीं था। उस जमाने में बड़ी जातियों के लोगों में भी बहुत कम लोग स्कूल का मुँह देख पाते थे। केवल कायस्थों के लड़के नियमित रूप से स्कूल भेजे जाते थे। उनकी गुजर-बसर पढ़ाई-लिखाई के ऊपर ही थी। कलम के जीव थे और उसी कलम के बल से गाँव-देहात की जनता को नचा डालते थे। जो काम हमारे ऐसे समर्थ लोग प्यादे-पुलिस और रूपयों की मार से नहीं कर पाते थे, उसे कलम की नोक के बल से ये लोग कर डालते थे। ब्राह्मणों के कुछ लड़के भी थोड़े-बहुत पढ़ाये जाते थे, सो भी पूरे घर में केवल एक लड़का, जिसमें वह पढ़ लिख कर पोथी-पत्रा बाँच सके, भागवत कह सके।

बड़ी जाति वालों और समर्थ लोगों के लड़के भी स्कूल नहीं जाते थे, पढ़ाई-लिखाई उनके लिए बेकार समय गँवाने की चीज़

थी। रोपन जैसे नान्ह कौम के लोगों को बचपन में कहाँ पढ़ाई-लिखाई से मुलाकात होती। एक बात मैं मानता हूँ। कुछ भी हो आदमी बड़े लगन का था। गाँव में जो लड़के स्कूल जाते थे, उनसे ही उसने अक्षर ज्ञान कर लिया था और अपनी उस लगन को बढ़ाते-बढ़ाते टटोल-टटोलकर उसने रामायण पढ़ना शुरू किया। फिर तो सुनते हैं कि उसने पूरी रामायण का कई बार पारायण किया था। उस समय गाँवों में सबलसिंह चौहान के लिखे दोहे-चौपाइयों में छपे महा-भारत का बड़ा चलन किया था। एक बार रोपन के मुँह से मैंने वह महा-भारत सुनी थी। वह गरज पढ़ता था कि सुनने वालोंपर एक नशा-सा छा जाता था। प्रभावित तो मैं भी हो गया था, पर एक अदने किसान के मुँह से सुनी महाभारत की महत्ता का मैं समर्थन करता तो फिर सुनने वाले मेरी हँसी उड़ाते और वह भी फूल कर कुप्पा हो जाता। बाद में तो उसे हिन्दी अखबारों का भी चस्का लग गया था। अपने एक प्यादे के मुँह से सुना था कि गेहूँ बेच कर उसने रुपये जमा किये और उन रुपयों से हिन्दी अखबार के लिए चन्दा भेजा। इस बात को लेकर उसकी स्त्री और उसमें कहा-सुनी भी हुई थी। प्यादे ने तो मुझे यह भी बताया इसी बात पर रूठ कर उसकी औरत नैहर जा रही थी, पर रोपन ने उसे मना लिया।

इन सब बातों से गाँव और इलाके में रोपन का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वह प्रभाव हमारे हक में दिन पर दिन खतरनाक होता जा रहा था। मैंने अपने विश्वस्त आदमियों से सलाह ली, थानेदार की सहमति पूछी, पटवारी से राय ली। थानेदार और पटवारी ने इस बात का आश्वासन दिया कि हम लोग हर तरह से इन सरकश लोगों को परेशान करने में साथ देंगे। साथ ही थानेदार ने यह भी राय दी कि इन्हें किसी फौजदारी के मुकदमे में फँसाया जाय। चार-छः माह तक मुकदमा लम्बा खिंच जायगा, घर में जो लेई-पूँजी होगी वह साफ

हो जायगी और फिर साल-छः महीना के लिए जेल काट आयेंगे। नाधा-पैना टूट जायगा। आने के बाद भीख माँगने के सिवा और कोई रास्ता इनके लिए नहीं रह जायगा।

फौजदारी कराने की बात मेरे मन में भी थी। इसमें एक फायदा मुझे नजर आ रहा था कि हमारे तो हजार-पाँच सौ रुपये बिगड़ेंगे पर इस फौजदारी में बदमिजाज काश्तकारों के होश ठिकाने आ जायेंगें, बस दुरुस्त हो जायेंगे। जो कसर बची रहेगी वह मुकदमें की पैरवी करने में वकील, मुख्तार को जेब भरने में दूर हो जायगी। और फिर साल-छः महीने की सजा काट आयेंगे। जेल से आने के बाद उनके भूत भी फिर कभी मेरे पास नहीं फटकेंगे।

फौजदारी कराने के लिए मौका ढूँढने की जरूरत नहीं थी। मौका तो हर वक्त हाथ में था। केवल निश्चय की देर थी।

महीपतपुर गाँव में जितनी आबपाशी होती थी उनमें अधिकांश कूएँ हमारे ही थे। जमीदारी की तरफ से खुदवाये गये थे और उनमें बोरिंग करायी गयी थी। जिसमें पानी की कमी न पड़ने पाये। कूएँ खुदवाते समय भी हमने यह ख्याल रखा था कि कूएँ के खुदवाने के खर्च का बोझ हमारे ऊपर न पड़ने पाये। कूएँ के खुदवाने-बँधवाने के लिए हमने काश्तकारों से रुपया वसूल किया था। जिस कूएँ पर जिस काश्तकार की जितनी जमीन पड़ती थी उस हिसाब से हमलोगों ने उन पर टैक्स बैठाया था। इस टैक्स से कूएँ खुदवाने-बँधवाने के बाद भी कुछ रुपये बच रहे थे। साथ ही, सबसे बड़ी बात यह थी कि इसके बावजूद कूओं पर हमारा ही हक था। हम जब चाहते कूएँ का पानी लेना बन्द कर सकते थे। कूएँ खुदवाते समय हम लोगों की एक बात की और भी मंशा रही थी। किसान-काश्तकार इस बात की शिकायत करते थे कि खेत में पानी के बिना पैदावार नहीं होती है। फसल मारी जाती है। लगान चुकाने में दिक्कत पड़ जाती है। उस

समय हमारे दिमाग में यह बात आयी कि अगर जमींदारी के गाँवों में कूएँ खुदवा देते हैं तो उसकी खुदाई का खर्च किसानों-काश्तकारों से तो वसूल हो ही जायेगा, साथ ही साल, दो-साल बाद लगान भी बढ़ायी जा सकेगी। बाद में मैंने इसी आधार पर लगान बढ़ाया भी था। हालाँ कि उस समय भी कुछ भनक मेरे कान में आयी थी कि किसान-काश्तकार इस बात का विरोध कर रहे हैं कि जब फसल मारी जाती थी तब तो लगान में कमी एक कौड़ी की भी छूट नहीं दी गयी और अब हम लोग किस आधार पर लगान बढ़ायें। पर ऐसी बातों की सुनवाई अगर मैं करने लगा होता तो आज तक कभी का मेरा नामो-निशान मिट गया होता।

अब मैंने महीपतपुर गाँव में इस बात का एलान करवा दिया था कि न तो हमारी बावली से कोई आबपशी कर सकेगा और न हमारे कूँओं से ही कोई मोट-पुर चला सकेगा। जगह-जगह मैंने अपने प्यादों का पहरा बैठा दिया।

इस मुनादी से सारे गाँव में हलचल मच गयी। हमारी तरफ की जमीन ऐसी है कि किसान रात-दिन अपने सारे परिवार के साथ जुटा रहता है। जाड़ा हो, गरमी हो, बरसात हो, तीसों दिन बारहों महीने लगा रहता है; तब फसल तैयार होती है। बिना आबपाशी के तो खेत में बोअन भी वापस नहीं आ सकती

किसान-काश्तकार चैती फसल बो चुके थे। जौ-गेहूँ बालिश्त भर से ऊँचे आ चुके थे। उनमें पानी देने की सख्त आवश्यकता थी। जौ और गेहूँ के पौधे पीले पड़ते जा रहे थे। जड़ के पास की पत्ती पीली पड़कर मुरझाती जा रही थीं। रात में ओस के कारण सबेरे-सबेरे खेत कुछ हरियाले से लगते, पर दो घड़ी दिन चढ़ते न चढ़ते उनका रंग उतर जाता। जैसे जेठ के प्यासे किसी मुसाफिर को कहीं चुल्लू भर के लिए

पानी मिल जाय, पर प्यास वैसे ही और भी प्रबल हो उठे। पौधों का स्वाभाविक विकास रुक गया था। यह तय था कि अगर पन्द्रह-बीस दिन के भीतर इनमें पानी नहीं दिया गया तो खेत में जो बेंगा डाली गयी है, उतना भी अनाज इसमें नहीं आ पायेगा। जौ के पौधों में तो कुछ दम भी होता है, जरा तड़क बरदाश्त भी कर जाता है, पर गेहूँ का पौधा बड़ा सुकुमार होता है, उसे ताव पर पानी मिलना ही चाहिये। इसलिए गेहूँ के खेतों का तो और भी बुरा हाल हुआ था।

जौ और गेहूँ के खेतों में केवल सरसों के पौधों ऊँचे उठ गये थे। कुम्हलाये तो वे भी थे, पर उनमें तरी ज्यादा होती है। इसलिए जहाँ गेहूँ और जौ के पौधों की बाढ़ एकदम मारी गयी थी, वहाँ सरसों के पौधे कुछ अपने को सँभाले हुए थे। पूरी बाढ़ तो उनकी भी नहीं हो रही थी पर तो भी दूसरों से अच्छे थे। उनमें कुछ में पीला-पीला फूल निकल आया था। इन्हीं खेतों में समय से जब पानी पड़ जाता है तब हमारी ओर की सारी धरती जैसे इस मौसम में पीली चूनर पहन कर दूल्हन सी सज जाती है। किसानों की तो बात ही क्या, उनकी तो छाती गज भर चौड़ी हो जाती है? जैसे अपने बेटे-बेटियों की की तरक्की और बहबूदी पर माँ और बाप का दिल बाग-बाग हो हो जाता है उसी तरह किसानों का दिल उल्लास से भरा रहता है। उस समय वे अपने को किसी राजा-महाराज से तिल भर भी कम नहीं समझते हैं। दर्शकों का दिल भी प्रकृति की उस सुन्दरता पर मुग्ध हो उठता है। मटर के सफेद और बैगनी फूल ऐसे भले लगते हैं जैसे किसी बच्चे की आँखें हों। मैं खुद इन पर लहालोट हो जाता रहा हूँ। अपने इलाके में जब मैं इस मौसम में दौरे पर निकलता था तो मेरा मन भी खुशी और उल्लास से भरा रहता था।

जहाँ गेहूँ और जौ के पौधों का यह हाल था, वहाँ मटर का तो कुछ पुछना ही नही था। मटर का पौधा नवजात शिशु-सा होता है।

शुरू में खूब सेवा-सिफारिश माँगता है। गेहूँ के पौधे सा ही किसान इसकी देखभाल करते हैं। पानी भी पहले मटर-गेहूँ में दे लेते हैं तब जौ और चने में देते हैं। जरूरत पड़ने पर इसे फिर एक बार सींच देते हैं, तब जाकर यह अपनी पूरी बाढ़ पर आता है।

पर पानी के अभाव में मटर के पौधे एक दम कुम्हलाये थे। पीली पत्तियाँ टूट कर जमीन पर बिखरी थीं। उनके पत्ते मुरझा रहे थे। हाँ, फूल जरूर लग रहा था, पर वह न उतना सुन्दर ही था न उतना हरा-भरा। आखिर जब तक उसकी जड़ों में तरी न रहे, धरती से कैसे वह अपनी खूराक खींच सकता है।

अलबत्ता चने के पौधे कुछ दम धरे थे। चने का पौधा बड़े जीवट का होता है। बड़ी दम होती है उसमें।

महीपतपुर गाँव में मैंने जो पानी रुकवा दिया था उसका असर अन्य गाँवों पर भी पड़ रहा था। उनमें जो बूढ़े आदमी थे, वे यह साफ कह रहे थे कि राजा-दई से बैर-बिसाह कर कोई कितने दिन जी सकेगा। महीपतपुर गाँव में बूढ़े-पुराने लोगों का यही ख्याल था। पर जैसी मुझे खबरें मालूम हो रही थीं, नौजवान वाही-तबाही बक रहे थे। रोपन उनका सरगना बना था।

एक दिन महीपतपुर के प्रायः सभी किसानों का जुलूस मेरे पास आया। रोपन उनका अगुआ था। दीवानजी ने तो समझाया कि मैं उनसे बातें ही न करूँ, पर मैं जरा उनकी रौ देखना चाहता था। मैंने कहा—"जब तुम लोगों को अपने मन की करनी है तब जो चाहो करो। बावली हमारी है, कूँएँ हमारे हैं, उनका पानी तुम नहीं ले सकते।

रोपन—"कूँएँ के बनवाने में हम लोगों से रुपया वसूल किया गया है। हमारे ही पैसे से ये कूँएँ तैयार हुए हैं। इससे इसके पानी पर हम लोगों का हक है। दूसरे, जब जमींदार को लगान लेने का हक है

तब खेतों की सिंचाई का भी बन्दोबस्त करने का उसी का कर्त्तव्य है। आखिर हम लोग लगान किस बात का देते हैं ?

उसकी बातें गुस्ताखी से इतनी भरी थीं कि मेरे लिए सुनना असह्य था। मैंने अपने लट्ठबन्द प्यादों को इशारा किया और वे उनपर टूट पड़े। रोपन पर मेरा खास लक्ष्य था। मैंने उन्हें पहले ही समझा दिया था कि इस मारपीट में पहला लक्ष्य उसी का रखना। पर वह भी एक ही टूटा हुआ पट्ठा था। सब वार बचा गया। जरूर किसानों में से दो-एक के हाथ-पैर टूटे। एक का सर भी खुल गया। मेरे प्यादों में किसी को सख्त चोट नहीं आयी।

पूर्व योजना के अनुसार उनपर मुकदमा चला। थानेदार ने शुरू से लेकर अन्त तक कार्यवाई इस रूप में सामने रखी कि लाख कोशिश करने पर भी वे सजा से बच न सके। उन्हें छः-छः महीने की सजा हो गयी।

यह विजय किसकी ?

लड़ाई के दौरान में ऐसी कितनी ही खबरे आती रहीं जिनमें कभी-कभी मेरा कलेजा काँप जाता था। मैं सर्वान्तःकरण से अंग्रेजों की जीत चाहता था। फलतः जब कभी अंग्रेजों की स्थिति भयावह मालूम होती थी, मुझे घबराहट होती थी।

लड़ाई के बीच में जो सबसे अशुभ समाचार आया, वह था रूस में क्रान्ति। लड़ाई का चौथा साल चल रहा था। इस बीच खबर आयी कि रूस ने लड़ाई से तटस्थता अख्तियार कर ली है। पहले वह मित्र-राष्ट्रों के साथ था।

रूस के बारे में इससे पहले मुझे कुछ भी ज्ञान न था। इतना जरूर मैं जनता था कि वहाँ का शासन ज़ार के हाथ में है। ज़ार की परम्परा खानदानी सम्राटों में से थी। यह बात भी मुझे ज्ञात थी कि ज़ार का शासन कुछ सख्त था। शासन की सख्ती का तो मैं सदा कायल रहा हूँ। शासन तो सख्ती की ही चीज है। शासन की व्यवस्था और मर्यादा का निर्वाह करने के लिए यह आवश्यक है कि जनता में रोब-दाब रखा जाय। शासन के प्रति उनके मन में आतंक और भय की भावना रखी जाय ताकि जनता राजद्रोह के विषय में सोच भी न सके। इसलिए रूस के ज़ार के शासन की सख्ती और शासन की मर्यादा-रक्षा दोनों का मैं समर्थक था। मैं ही क्या, कोई भी बुद्धिमानी व्यक्ति जिसे शासन की गुरुता की बोध हो, मेरी इस बात से सहमत होगा।

सन १९१७ की फरवरी-मार्च में समाचार आया कि ज़ार के शासन का पतन हो गया। वह पतन बहुत ही भयप्रद था। ज़ार, उसके परिवार और उसके मुख्य अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया गया। अभी तक तो धरती पर यही होता आया था कि व्यवस्था और नियम कानून बरकरार रखने के लिए शासन की ओर से जनता को दंड दिया जाता था। साथ ही, अगर जरूरत पड़ी तो उन पर फौज-पुलिस की मदद से शासन की पद मर्यादा का निर्वाह कराया गया है। परन्तु यह उलटी बात सामने आयी थी। हाँ, विद्रोह के रूप में यह जरूर हुआ था कि जनता ने बगावत कर दी हो, राजद्रोह पर उतर आयी हो, और बादशाह ने सख्ती के साथ दमन करके स्थिति को सम्हाल लिया हो। परन्तु रूस की फरवरीकी जो घटना थी उससे मैं आतंकित हो उठा।

किन्तु थोड़े ही दिनों में मेरी आशंका दूर हो गयी। यह बात जरूर हुई थी कि शासन ज़ार के हाथ से छीन गया था। ज़ार और उसका परिवार मौत के घाट उतार दिया गया था। पर शूरु में जैसा सुनायी दिया

था, वैसी बात नहीं थी। शासन वहाँ के किसान-मजदूरों के हाथ में नहीं आ पाया था। आम जनता तो जैसे ज़ार के शासन काल में थी, वैसे ही इस नयी शासन-व्यवस्था में भी रही।

उस समय मेरे मन में शंका उठी थी। मैंने बीरू के सामने अपने विचार रखे थे। बीरू, यद्यपि है तो अभी उम्र में कम, चालिस-पैंतालिस की उम्र, अनुभव के दृष्टिकोण से कोई उम्र होती है? पर है वह बहुत सुलझे हुए विचारों का। वस्तुतः बीरू ने हमारे परिवार में जन्म ले कर हमारे परिवार का नाम उजागर किया है।

हाँ, तो जब देश से अंग्रेज चले गये, देश में कांग्रेस की चुनाव में सर्वत्र विजय हुई थी और कांग्रेस, शासन-सूत्र सम्हालने जा रही थी, उस समय मुझमें और बीरू में जो बातें हुई थीं वह मुझे आज भी याद हैं। उसकी महत्ता से मैं आज भी प्रभावित हूँ।

जनता में जो जोश-खरोश था, उसकी जो उभड़ती हुई ताकत हमारे सामने आ रही थी, उसे दृष्टि में रखते हुए मैंने बीरू से कहा था—"बेटा जो दिन-रात कांग्रेस में लगे हो, कहीं ऐसा न हो कि यह कांग्रेस शासन हमीं लोगों की जड़ काटे। कहीं तुम हमारे वर्ग के लिए कुल्हाड़ी का बेंट तो नहीं सिद्ध हो रहे हो।"

सुन कर बीरू मुसकुराने लगा। उसकी वह मुसकराहट आज भी मेरे दिल में समायी हुई। उसकी उस मुसकुराहट में यह बात स्पष्ट हो रही थी कि पिताजी, आप मुझसे उम्र में, अनुभव में, व्यवहार-नीति आदि में आगे जरूर हैं, पर इस स्थान पर आप गलती कर रहे हैं। आप का अन्दाज गलत है। मैं आप से उम्र में छोटा हूँ तो क्या, पर इस बात को आप से ज्यादा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। आप का बेटा इस बात में कभी गलती नहीं करेगा। वह अपने वंश को कभी नहीं डूबायेगा। उसकी नसों में परम-प्रतापी राजा रिपुमर्दन का रक्त प्रवा-

हित हो रहा है। वह अपने वंश के, अपने वर्ग के हितों के खिलाफ कभी नहीं जायेगा।

प्रकट रूप में कहा—"पिताजी, निश्चित समझिये कि आप का बीरू कभी भी ऐसा कदम नहीं उठा सकता जिसमें अपना विनाश हो। बहुत सोच-समझ कर मैंने यह रास्ता पकड़ा है और वह इसलिए कि मैं जानता हूँ अगर देश में कोई ऐसी संस्था है जो हमारे हितों की रक्षा कर सके, तो वह कांग्रेस ही है।"

उसने आगे कहा—"इस चुनाव की ही बात ले लीजिये। आखिर चुनाव में कौन लोग उठ रहे हैं या कांग्रेस किसे चुनाव लड़ने के लिए टिकट दे रही है? इसे आप गौर से देखिये-समझिये तो आपका सारा संशय मिट जायेगा।"

मैं—"यह बात तुम ठीक कह रहे हो, पर चुनाव लड़ने की छूट तो सभी को है और वोट देने का अधिकार भी; अब अगले चुनाव में सुनते हैं अधिकार बालिग के हाथ में आ जायेगा। ऐसी हालत में हम लोगों की स्थिति कहाँ तक प्रौढ़ रहेगी, यह तुम खुद सोच सकते हो।"

बीरू—"मैं यह जानता हूँ और देख समझ भी रहा हूँ कि जनता की ताकत दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। अपने अधिकारों के प्रति वह सतर्क होती जा रही है। पर साथ ही यह देखिये कि कांग्रेस में कौन लोग अधिकार पाये हुए हैं? और इस समय कांग्रेस के सिवा देश में और कौन ऐसी संस्था है जिसके हाथ में इतना साधन है। ये सेठ-महाजन और दूसरे समर्थ लोग कुछ भाँग खा कर तो कांग्रेस की मदद नहीं कर रहे हैं और अंग्रेजों ने भी कांग्रेस के हाथों में जो शासन दिया वह कुछ सोच समझ कर ही दिया है। उन्हें यह मालूम है कि इस तरह शासन के अधिकारी बदलेंगे, शासन की नीति नहीं बदलेगी। फिर जब शासन की नीति पूर्ववत रहेगी तब हम लोगों का अहित कैसे हो सकता है?"

मैं उसकी बातें गौर से सुन रहा था। मुझे उसमें कुछ सार दिखलायी दे रहा था। उसने आगे कहा—फिर असेम्बलियों मे वही पहुँचेगा जो चुनाव में जीत पायेगा। यह चुनाव ऐसा रखा जाता है कि दिल खोल कर रुपया लुटाना पड़ेगा प्रचार-प्रसार के लिए। आप तो जानते ही हैं कि कौन आदमी ऐसा है जो चुनाव का खर्च बर्दाश्त कर सके। चुनाव का खर्च तो वही उठा सकता है जो हमारे वर्ग का हो, जिसकी जमींदारी रही हो, राजा-रजवाड़ा रहा हो, रईस-उमराव रहा हो, सेठ-महाजन रहा हो। ऐसे ही लोग चुनाव में रुपया लगा सकेंगे। असेम्बलियों और केन्द्र में पहुँचने के लिए हजारों रुपये तो आसानी से खर्च हो जायेंगे। अब आप यह बताइये कि कौन किसान-काश्तकार, मजदूर, यह खर्च करने की स्थिति में हैं? यह खर्च तो वही उठा सकेगा जो श्री-सम्पन्न हो और श्री-सम्पन्न लोग जब शासन का सूत्र-भार सम्हालेंगे तो अपना ही हित करेंगे।"

बीरू की बातों में जो तथ्य था, उसकी सचाई से कोई इनकार नहीं कर सकता। अब तो यह बात मेरे सामने आ गयी है। उस समय बीरू ने एक भविष्यद्दृष्टा राजनीतिज्ञ के रूप में जो भविष्यवाणी की थी वह आज सवा सोलह आने सच निकल रही है।

मुझमें और बीरू में जो बातें हुई थी उससे सारा सन्देह दूर हो गया था।

इसीलिए रूस के अपने उन समानधर्मी भाइयों के हाथ में शासन-व्यवस्था आने पर मैं पुलकित और आश्वस्त हो गया था।

पर बहुत जल्द ही मेरा यह सुख-स्वप्न मिट गया था। पाँच-सात महीनों का समय गुजरा और उसी वर्ष के नवम्बर महीने में रूसमें फिर एक क्रान्ति हुई और उस क्रान्ति ने हमारे वर्ग का उत्थान सदा के लिए रोक दिया। बल्कि सही शब्दों में कहा जाय तो वहाँ की जनता हमारे वर्ग के खिलाफ उठ खड़ी हुई। अपने देश में उसने हमारे

वर्ग को नेस्तनाबूद कर दिया और वहाँ पर सामुदायिक राज्य कायम हुआ।

यह खबर सुनकर मैं अप्रतिभ हो गया था। यद्यपि मुझे इसके बारे में विशेष रूप से तब कुछ मालूम नहीं हुआ था। पूरी जानकारी बाद में हुई।

पहले ही मैं इस बात का उल्लेख कर चुका हूँ कि मेरे बाल-साथी जगदेव ने अपनी पढ़ाई का क्रम चालू रखा था। वह हमारे साथ ऐश-आराम में जितना आगे था, उतना ही पढ़ने-लिखने में भी। वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि का था। बल्कि मैं तो कहता हूँ कि उसकी प्रतिभा असाधारण थी। ऐश-मौज में सदा साथ रहता था पर न जाने पढ़ने का कौन मौका निकाल लेता था कि अपने क्लास में सबसे आगे रहता था। जो चीज एक बार वह देख-सुन लेता, उसे भूलना उसके लिए मुश्किल था।

पढ़ाई खतम कर वह विलायत चला गया था। वहाँ उसने आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की और अब वह कलक्टर हो गया था। शादी उसने अब भी नहीं की थी। उसका परिवार तो हमारे ही गाँव में था। हमारे यहाँ उसके परिवार की अब भी दीवानगीरी चली आ रही थी, पर उस दीवानीगिरी में उसके परिवार को सौ-दो-सौ रुपये मिल जाते थे। यह बात जरूर थी कि जमींदारी की वजह से उसका परिवार खुशहाल हो गया था, जगदेव इतनी ऊँची पढ़ाई कर सका था। पर इस बात को भी मैं स्वीकार करूँगा कि जहाँ रुपये-पैसे और आर्थिक स्तर ऊँचा करने में हमारे परिवार ने उसके परिवार की मदद की थी, वहाँ हमारे इलाके की शासन व्यवस्था उसके परिवार ने ऐसी होशियारी से की थी कि हम लोगों की आमदनी दिन पर दिन बढ़ती ही गयी थी। सही बात यह है कि हम दोनों एक दूसरे के पूरक थे। एक जहाँ शारीरिक बल और सम्पत्ति के जोर से इलाके को सर किये हुए था, दूसरा वहाँ अपने

दिमाग और कलम की नोक से इलाके को नाकों चने चबवाये हुए था। बड़े संयोग से हमारे परिवारों का आपस में यह गठबन्धन हुआ था। यह गठबन्धन हमारे दोनों के परिवारों के लिए शुभ और कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

शायद सन् अठारह की जनवरी की शुरुआत थी, या सन् १७ का दिसम्बर था, ठीक याद नहीं पड़ता। पर बात इसी समय के आस-पास की ही है। जगदेव छुट्टियों से घर आया हुआ था। लड़ाई और उसकी गतिविधि पर मैंने उससे सरकारी रुख समझा। यह तो तब तक तय सा हो गया था कि इस लड़ाई में जीत अँग्रेजों की ही होगी।

परन्तु रूस में जो क्रान्ति हुई थी उसके बारे में उससे जो विस्तृत रूप से मैंने समझा, उससे मैं काँप उठा। मेरी जिन्दगी में उतना भय मुझे कभी नहीं हुआ था। दरअसल उसी क्रान्ति ने दुनिया से हमारे वर्ग की जड़ खोदने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था और हमारे दुश्मनों की ताकत धरती पर कायम हो गयी थी।

उसने कहा—"भाई, यह मैं तुमको आज बताये देता हूँ कि अब हम लोगों का अस्तित्व खतरे में है। देखने में तो यह बात दूर की लगती है कि एक अनजाने दूर देश की इस क्रान्ति का हम लोगों के हितों पर कैसे असर पड़ सकता है। पर बात जरा गौर से देखने से साफ हो जाती है।"

मैं उसकी ओर चुपचाप देखता रहा। उसने आगे कहा—"दुनिया के एक विशाल हिस्से पर किसान और मजदूर का राज्य कायम हुआ है। वहाँ से सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्था खत्म हो गयी है और अब उसकी छूत सारी दुनिया में फैलेगी।"

मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि इतनी बड़ी जनक्रान्ति कसे सम्भव हो सकी। शासन की इतनी सख्ती, फौज, पुलिस, प्यादे, सेठ-महाजन, राजा-रईस, तालुकेदार-जमींदार सब जिसके साथ हों, उस

सरकार का पासा कैसे उलट गया। कैसे वहाँ पर पदमर्दित जनता उठ खड़ी हुई और शासन को अपने हाथ में कर लिया।

कुछ इसी तरह का भाव मैंने प्रकट किया था। जगदेव ने कहा—"उन्हें ऐसे रहनुमा मिल गये थे, उनके नेता ऐसे थे जो उन्हीं के बीच से उठे थे, उन्हीं के आदमी थे। इस कार्य में वहाँ के लेखकों ने भी पूरा योग दिया। उनकी लेखनी दिन-रात उन्हीं को जगाने में लगी थी।"

यह कह कर वह कुछ देर के लिए चुप हो गया। उस पर भी भविष्य की आशंका का भय समा गया था। मैं खुद भी चिन्तित हो उठा था। हम दोनों कुछ देर इसी तरह चुपचाप बिना एक शब्द बोले बैठे रहे। फिर उसी ने कहना शुरू किया—

"यह बात नहीं है कि रूस के किसान-मजदूरों ने जो राज्य कायम किया है, उसकी सफलता शत प्रतिशत निश्चित हो। संसार की अन्य सारी शक्तियाँ उनके खिलाफ हो उठी हैं। रूस के पास साधन अत्यन्त सीमित है। बाहरी राष्ट्रों का यह प्रयत्न प्रारम्भ हो गया है कि इस शत्रु का गला उसकी सौरी ही में घोंट दिया जाय। इसके प्रयत्न हो रहे हैं। आर्थिक नाकेबन्दी में आखिर रूस कब तक टिक सकेगा। उसका सारा ढाँचा लड़खड़ा कर गिर जायगा। यही एक उम्मीद है जिस पर हमारे शुभ भविष्य की नींव पड़ सकती है।"

उस समय मेरा मन कुछ ऐसा भारी-भारी हो गया था कि उस दिन मुझे और कुछ भी नहीं सुहाया था। मेरे सामने जैसे अज्ञात भय खड़ा हो गया था। उस अनदेखे देश की समाज-व्यवस्था जैसे मेरा गला घोटने के लिए बढ़ी चली आती हो।

और उस समय मुझे जो आशंका थी वह अपनी आँखों देख रहा हूँ कि निर्मूल नहीं थी। आज दुनिया का एक तृतीयांश भाग उस दानवी लीला की चपेट में आ गया है। हमारे हितों की रक्षा करने में

जो ताकतें सन्नद्ध हैं, उनका भी ढाँचा ढीला ही पड़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि सभी देशों में, सभी जगहों में, देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करके वह भावना बल पकड़ती जा रही है। हम लोग उस धक्के को आखिर कब तक सम्हाल सकेंगे?

कुछ ही महीनों बाद लड़ाई समाप्त हो गयी। मित्र राष्ट्रों की लड़ाई में विजय हो गयी।

असहयोग आन्दोलन

लड़ाई में विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में हिन्दुस्तान के कोने-कोने में खुशियाँ मनायी गयीं। उत्सव किये गये। स्कूलों कालेजों में छुट्टियाँ की गयीं। लड़कों को मिठाइयाँ बाँटी गयीं। पर एक बात तय यह है कि सारी खुशी-उत्सव-जलसे सरकार की ओर से ही हुए, अथवा सरकार के हमख्वाह लोगों ने किये। जनता से इसका कोई ताल्लुक नहीं था, बल्कि उनमें तो सरकार के प्रति रोष की भावना थी। इसके कई कारण थे। एक तो लड़ाई के समय चीजों का मोल इतना बढ़ गया था कि वह आम लोगों की शक्ति के बाहर हो गयी थी। दूसरे, लड़ाई के समय अन्धाधुन्ध सिपाही फौज के लिए भरती किये गये थे। अब लड़ाई खत्म होने के पर उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। उस बर्खास्तगी से सरकार के प्रति सिपहियों का मन खट्टा हो गया। उनका कहना था कि सरकार ने उनके साथ अच्छा सलूक नहीं किया है। सरकार ने उनके साथ जो वादे किये थे उनका निर्वाह नहीं किया गया।

पर मैं इस बात को अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि यह जनता, सदा से ही एक सर दर्द रही है। पहले भी ये लोग

एक मुसीबत थे। ये लोग कुछ ऐसी नस्ल के है कि हम लोगों को कभी चैन से बैठने देना नहीं चाहते।

उस समय भी सरकार के लिए यही बात बात थी। आखिर कितने आदमियों को फौज में रखती! लड़ाई के समय की बात दूसरी है। उस समय सिपाहियों से जो बातें कही गयी थीं, उनकी बात दूसरी थी। अगर हर बात को कोई सरकार पूरी करने लगे तो फिर तो राज चल चुका! दूसरे, जनता को गुमराह करने वालों की कभी कमी नहीं रही, न पहले थी और न आज।

यह असंतोष दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। साथ ही एक बात और थी। पहले लड़ाई के समय कांग्रेस के जिन नेताओं ने सरकार का समर्थन किया था, अब वे भी सरकार के खिलाफ प्रचार करने लगे थे। बोअर युद्ध के समय गांधीजी ने अंग्रेजों की मदद की थी। वालंटियरों को लेकर खुद मोर्चे पर पहुँचे थे। पहली लड़ाई में यही हाल था। रंगरूटों को भरती कराया था। पर लड़ाई खत्म होने पर वे भी अंग्रेजी राज के खिलाफ प्रचार करने लगे। जनता में तो पहले से ही असन्तोष व्याप्त था। अब इन नेताओं के प्रचार से वह आग और भी भड़कने लगी। अँग्रेजी सरकार ने इस आग को दबाने के लिए एक कानून पास किया। इससे और भी असन्तोष बढ़ा। पंजाब में इसी एक्ट के खिलफ में मत प्रकट करने के लिए अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक सभा हुई जिसे रोकने के लिए जनरल डायर ने हरचन्द कोशिशें कीं। बाद में उसे गोली चलवाना पड़ी जिसमें सैकड़ों आदमी मरे और घायल हुए।

इस समाचार ने देश में एक तूफान सा मचा दिया। मैं स्वयं भी नहीं समझ सका कि इस समय मेरा क्या कर्तव्य है।

'कर्तव्य' शब्द की व्याख्या जरा मैं स्पष्ट कर दूँ। कर्तव्य का अर्थ

मैं यही लगाता हूँ कि जिस कार्य से हमारे मूलभूत स्वार्थों की रक्षा हो उसमें किसी तरह की बाधा-विघ्न न पड़े।

इसलिए, उस डाँवाडोल तूफानी स्थिति में मैं स्वयं किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया था कि खुले आम सरकार के साथ रहूँ अथवा सरकार और कांग्रेस दोनों के साथ। वैसे, मैं काँग्रेस का समर्थक रहा हूँ, कारण कि मैं उसी समय यह समझ गया था कि अंग्रेजों के बाद कांग्रेस ही वह संस्था है जिसमें हमारे स्वार्थों की रक्षा की गारन्टी हो सकती है। पर उस डाँवाडोल स्थिति में मुझे यह भय था कि अगर खुले आम काँग्रेस के साथ आया तो मेरी स्थिति को ठेस पहुँचेगी। सरकार का मैं प्रियपात्र था। सरकारी अफसरों के साथ मेरा भाईचारे का सम्बन्ध था। अँग्रेज अधिकारी मुझ पर विश्वास करते थे। उन्हें इस बात का इतमीनान था कि हर संकट में राजा रिपुमर्दन के वंशज उसके साथ रहेंगे और हम लोगों ने इस विश्वास की रक्षा भी की थी।

अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जनरल डायर ने जो गोली चलवायी थी उसकी प्रतिक्रिया में सारा देश एकमत हो उठा था। काँग्रेस के नरम नीति वाले नेता भी जोश में आ गये थे। साधारण जनता के मन में तो असन्तोष का जैसे ज्वार ही उठ रहा था।

धीरे-धीरे मैं यह अनुभव करता जा रहा था कि पिताजी के समय में अथवा मेरे लड़कपन के समय में जनता की जो स्थिति थी, वह दिन पर दिन बदलती जा रही थी। समय पा कर वे अपनी आवाज, सरकार और हमारे वर्ग के खिलाफ बुलन्द करते जा रहे थे। उनके मन का भय निकलता जा रहा था। उनमें आत्म-विश्वास और आत्म गौरव की भावना जाग्रत होती जा रही थी। पर पहले समय में उन्हें हर कोई रौंद सकता था, वे गीली मिट्टी के मानिन्द थे जिन्हें अदना आदमी भी जब चाहे पैरों से कुचल सकता था और जरा भी चीं-चपड़ करने की उनकी मजाल नहीं थी। अब बीस-पचीस वर्षों में वह स्थिति एकदम

बदल गयी थी। कच्ची मिट्टी जैसे आग में तपकर पक्की ईंट की शक्ल में परिवर्तित हो जाती है कि लाख हवा पानी पड़े, लाख तूफान उठे, कोई उसे गला नहीं सकता है। उसकी स्थिति प्रौढ़ हो जाती है, उसका अपना एक अस्तित्व हो जाता है। मिट्टी के ढेले को जैसे हर कोई ठोकर मार देता है, पर पक्की ईंट को ठोकर मारने की कोई हिम्मत नहीं करता, उसी तरह की स्थिति साधारण जनता की होती जा रही थी। उसके बढ़ते हुए बल को, उसकी जाग्रति को, उसकी शक्ति को, उसके दुर्दमनीय साहस को देख सुन कर सरकारें संत्रस्त हो उठती हैं, फिर हम लोगों की तो शुमार ही क्या?

मुझे आज भी इस बात का रश्क होता है और उस समय भी इसका रश्क था कि हमारे पूर्वज कितने भाग्यशाली थे कि उन्हें अपनी शक्ति प्रदर्शित करने का पूरा मौका मिला, अपना दर्प और अपनी शक्ति की रक्षा करने का अवसर मिला। हर तरफ से वे अपनी मर्यादा को निबाहने में समर्थ थे। सदा उन्होंने अपनी पूजा करवायी और सदा जनता के सिर पर चढ़ कर रहे। मेरे लड़कपन में भी यह स्थिति कायम थी। उस समय की बातें कुछ दूसरी ही थीं। उस समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ये आज के रजील कल के राजा बनने वाले हैं, आज के ये पददलित कल के शासक और धरती के भाग्य विधाता बनने वाले हैं। परन्तु समय की गति कितनी बलवान है! कल जो बात कल्पनातीत थी, आज वह प्रत्यक्ष है।

गान्धीजी का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था, वैसे ही अँग्रेज सरकार और काँग्रेस का तनाव बढ़ता जा रहा था। गान्धीजी का कहना था कि उन्हें सरकार की ओर से धोखा मिला है उन्होंने लड़ाई के समय अँग्रेज सरकार की जो मदद की थी, उसके उपलक्ष्य में सरकार ने जो वायदा किया था, उसकी पूर्ति वह नहीं कर रही है। उल्टे वह दमन नीति पर उतारू हो गयी है। जनता पर वह अत्याचार

कर रही है और इसलिए हम सरकार का विश्वास अब नहीं कर सकते।

दरअसल, बात यह है कि उस लड़ाई के समय गान्धीजी ने जो अँग्रेजी जो अँग्रेजी सरकार की मदद की थी, उससे उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। इन्हीं आशाओं के बल पर उन्होंने जनता में अपनी बदनामी उठायी थी, काँग्रेस के गरम दल के नेताओं का विरोध सहा था। उन्हें इस बात की उम्मीद थी कि लड़ाई खत्म होने के बाद सरकार कुछ ऐसी व्यवस्था करेगी जिसमें उन्हें जो हानि उठानी पड़ी है, वह कुछ हद तक मिट जायेगी और उस समय बड़े गर्व से जनता से वह कह सकेंगे कि देखो, बुद्धिमानी इसे कहते हैं, इतनी बड़ी सरकार से दुश्मनी भी मोल नहीं ली और काम भी बना लिया।

इस बात को सदा समझ लेना चाहिये कि अँग्रेज सरकार की राजनीति कोई बच्चों का खेल नहीं रही है कि जब जो चाहे उसे बहका ले और मनमाना हासिल कर ले। सरकार जब-जब झुकी है, जनता की ताकत से ही झुकी है, कुछ शर्त और समझौते के बल से नहीं। यही बात मैं अपने-अपने वर्ग के बारे में भी कह सकता हूँ। हम लोगों में जब-जब कदम पीछे हटाया है, तो सद्भावना प्रकट करने अथवा धर्म का प्रचार करने के ख्याल से नहीं, बल्कि जब-जब हम लोग मजबूर हुए हैं, तभी कदम पीछे हटाये हैं, नहीं तो कौन इस धरती पर ऐसा है जो राज-सुख को यों ही किसी के बहकाने से छोड़ दे।

अँग्रेज सरकार और काँग्रेस की तनातनी बढ़ती जा रही थी। जनता यह चाहती थी कि जम कर मोर्चा लिया जाय। लड़ाई के दौरान में एक बार नेताओं के बहकावे में हम लोग जो चूक गये, अँग्रेजी सरकार का सर उसके संकट से फायदा उठा कर जो कुचल नहीं दिया, वह भूल तो हो चुकी, अब सरकार को ज्यादा मौका नहीं देना चाहिये।

गान्धीजी ने जनता की इस शक्ति को महसूस किया। यह तो निःसंकोच माना जा सकता है कि गान्धीजी बुद्धिमान आदमी थे।

अपने हित की बात वे बखूबी समझते थे। इसीलिए उन्होंने इस बात का सदा ख्याल रखा कि जनता की शक्ति उनके हाथ से जाने न पाये। जनता की शक्तिको लेकर ही वे आगे बढ़े और जहाँ-जहाँ उन्होंने इस बात को महसूस किया कि जनता कि शक्ति उनके सँभाले नहीं सँभल रही है, वहाँ उन्होंने निःसंकोच जनता की शक्ति का ह्रास कर दिया ताकि नेतृत्व उनके हाथ से निकलने न पाये।

गान्धीजी की इस नीति का मैं हृदय से समर्थक था। एक बात तो मैं यह स्पष्टतः लक्ष्य कर रहा था कि जनता दिन-दिन चढ़ते सूरज की तरह तपती जा रही है। उसकी शक्ति, उसका तेज और उसका पौरुष बढ़ता जा रहा है। अँग्रेज सरकार किसी न किसी दिन इस दुर्दमनीय शक्ति के सामने घुटने टेकेगी। फिर हम लोगों की कुशलता इसी में है कि जनता की शक्ति को इतना न बढ़ने दें कि वह सर्वोपरि हो जाय। गान्धीजी में यह गुण उनकी अन्तिम साँस तक था। इसीलिए मैं उनकी ओर आकर्षित रहा और कालान्तर में मैंने यह महसूस किया कि गान्धीजी के प्रति जो आस्था मैंने रखी थी, उसमें किसी भी तरह का धोखा मैंने नहीं खाया।

काँग्रेस ने अँग्रेजी सरकार के खिलाफ असहयोग आन्दोलन का श्री-गणेश किया था। यह सन १९२१ की बात है। उसके पहले हमने असहयोग आन्दोलन का नाम नहीं सुना था। इतिहास का ज्ञान मैंने सादा ही रखा था। किन्तु इस तरह के आन्दोलन की मिसाल मेरी नजरों में नहीं थी।

यह बात जरूर है कि हिन्दुस्तान के गाँवों में इस तरह के असहयोग का अस्तित्व रहा है। गाँवों में इसे धरना देना कहते हैं। पहले यह बात अकसर ही होती रहती थी कि किसी बड़े आदमी के खिलाफ, किसी जमींदार या अन्य किसी ऐसी ही शक्ति के खिलाफ, उसकी किसी बात का विरोध करने के लिए कमजोर व्यक्ति धरना देते थे। इस सम्बन्ध में

मेरे साथ भी कई घटनाएँ घट चुकी हैं जिनमें से एक की दिलचस्प याद मुझे अब भी बनी है।

वह घटना पहली लड़ाई के पहले की है। हमारी जमींदारी में एक विधवा ब्राह्मणी थी। उसके पास आठ-दस बीघे काश्त की अच्छी जमीन थी। वह जमीन शरहमोअइयन थी। अगर दखिलकार रहती तब तो कोई बात ही नहीं थी।

कारिन्दों के द्वारा मुझे यह मालूम हुआ कि वह अपने नाती के नाम हिब्बा करने जा रही है। पहले तो सीधे शब्दों में उसे समझाया पर वह कम्बख्त टस से मस नहीं हुई। चूँकि मामला विधवा का था, तिस पर ब्राह्मण वर्ग का, मैंने भी सोचा एक बार खुद समझा दूँ और अगर नहीं मानती है तो अन्तिम उपाय तो मेरे हाथ में है ही। उसका नाती क्या खाकर उस जमीन पर कब्जा हासिल कर सकेगा, उसकी बोटी-बोटी कटवा कर फेकवा दूँगा।

उसे एक मौका देने के लिए मैंने उस विधवा को बुलवाया। मैंने उससे कहा—"अपनी जिन्दगी भर तुम उस जमीन का भोग करो। खाओ, जो चाहो करो, पर उसको अपने नाती के नाम तुम हिब्बा नहीं कर सकती। आखिर तुहें लाभ क्या होगा? जमीन जब तक तुम्हारे नाम है, तब तक तो वह तुम्हें पूछता है, नहीं तो जहाँ उसके नाम से लगी नहीं कि तुम्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करेगा।"

विधवा—"सरकार, वह जमीन तो हमारी ही है। मेरा क्या ठिकाना, पके आम की तरह हूँ, जाने कब साँस छूट जाय। उस बच्चे को और कोई आसरा नहीं है। उसका बाप ऐसा कपूत निकला कि सब जमापूँजी फूँक-ताप डाला। सरकार वह खुद गुजर गया, अब हमारी बिटिया और नाती को और कोई आसरा नहीं है। इसीलिए यह जमीन मैं उसके नाम लगाना चाहती हूँ।"

मैं—पर तुमको यह मालूम है कि तिवारी (विधवा का पति) पर

इस जमींदारी का कितना एहसान है और तुम उसी जमींदारी का इतना अहित करोगी तो तिवारी की आत्मा दुखी होगी।"

विधवा पर इस बात का कुछ असर पड़ा पर तो भी उसने अपनी ज़िद रखी। बोली—"सरकार सो तो है, पर नाती और बिटिया के मुँह में माखी आ-जा रही है। यह जमीन उन्हें मिल जायगी तो वे अपनी गुजर-बसर कर लेंगे। पण्डित की आत्मा भी इससे सन्तोष पायेगी।"

जब वह बार-बार अपनी ही ज़िद पर अड़ी रही तो मैंने उससे साफ शब्दों में कह दिया कि इस जमीन को तुम किसी भी हालत में अपने नाती के नाम नहीं करने पाओगी। वह क्या दम रख कर इस जमीन पर कब्जा करने आयेगा। साथ ही इस जमीन के पीछे कहीं कुछ उसका अहित हो गया तो फिर मुझे दोष मत देना।"

मेरी इस धमकी का स्पष्ट अर्थ था कि अगर अपनी जान भारी हो तो उसका नाती इस जमीन पर कब्जा करने आये।

वह अच्छी तरह जानती-समझती थी कि मेरी धमकियाँ केवल ढोल की आवाज नहीं हैं, बल्कि हथौड़े की चोट हैं। फलतः अपने नाती के नाम जमीन का हिब्बा तो उसने नहीं किया, पर थी वह भी एक ही जिद्दी। अपने गले में उसने कुशा की रस्सी बाँध ली। इसे "बाँक बाँधना" कहते हैं। दाना-पानी उसने छोड़ दिया और घोषित कर दिया कि मेरे प्रति विरोध प्रकट करने में वह इसी तरह अपनी जान दे देगी।

अगर किसी मर्द ने ऐसी हरकत की होती तो मारे कोड़ों के मैं उसकी खाल उधेड़वा लिये होता, पर वह ब्राह्मणी जुलजुल हो चुकी थी। उस पर हाथ उठाना हत्या ही हाथ भर थी। मैं क्या करता। उसकी इस जिद के सामने मुझे झुकना पड़ा।

सो यह भी तो गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का बीज रूप था। देश-काल की परिस्थिति में उन्होंने इसे परिमार्जित किया। बाद में मैंने

ताल्सताय के साहित्य को पढ़ा। उसमें असहयोग की ऐसी घटनाएँ वर्णित हैं। इससे, कम से कम इतना तो आसानी से कहा जा सकता है कि गान्धीजी असहयोग आन्दोलन के स्रष्टा नहीं थे। उन्होंने इस नीति को केवल अपनाया भर था।

हाँ, तो बात मैं असहयोग आन्दोलन की कर रहा था। कांग्रेस ने गांधीजी को सम्पूर्ण अधिकार दे दिया था कि वे आन्दोलन चलायें। दरअसल, गान्धीजी अपने अधिकारों में कटौती नहीं बर्दाश्त कर सकते थे। सर्वेसर्वा होकर ही कोई काम करना चाहते थे। वही उन्होंने आखिरी दम तक किया।

सारे देश में जागर्ति की एक लहर दौड़ गयी। जैसे जनता की नसों में विजली दौड़ रही थी। उस जागर्ति से सरकार और उसके समर्थकों का कलेजा काँप रहा था। बार-बार मेरे मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि जिस दिन यह जनता अपनी शक्ति की आजमाइश करेगी, उस दिन दुनिया की बड़ी से बड़ी सल्तनत को भी बाध्य होकर अपने घुटने टेक देने पड़ेंगे।

किन्तु मैं गान्धीजी की बुद्धि की तारीफ करता हूँ। जनता को उभाड़ने के लिए तो उन्होंने उभाड़ा, पर उसकी नकेल सदा अपने हाथ में रखी।

उस समय काँग्रेस के आन्दोलन से प्रभावित केवल साधारण जनता ही रही हो, यह बात नहीं, सरकारी नौकरों तक में उसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी नौकरी से स्तीफा दिया। विद्यार्थियों और अध्यापकों ने स्कूल छोड़े। वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी। वकीलों में कुछ ऐसे थे जिनकी वकालत चमक रही थी। हजारों की आमदनी उनकी माहवार की थी। उस समय मेरी समझ में यह बात नहीं आयी थी कि हजारों रुपये माहवार पर ये लात क्यों मार रहे हैं। पर बाद में यह बात स्पष्ट हो गयी। जो चोटी के वकील थे, समय के रुख को देखकर उन्होंने कांग्रेस

में योग दिया। कालान्तर में वही कांग्रेस के सर्वेसर्वा हुए। मैं आज इस बात की कल्पना करके ही काँप उठता हूँ कि अगर इन लोगों के हाथ में कांग्रेस की शक्ति नहीं आयी होती, जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में आ गयी होती तो आज हम लोगों की क्या स्थिति हुई रहती! वकालत छोड़ने की उन्होंने भरपाई पा ली और अब तो उनके बेटे-पोते कांग्रेस शासन में सुख-सम्पत्ति का भोग कर रहे हैं। कुछ वर्षों तक तो उनकी चक रहेगी ही। भविष्य की बात भविष्य के गर्भ में है।

उस समय भी बहुत से लोग इस बात के खिलाफ थे कि विद्यार्थी स्कूल-कालेज न छोड़ें। पर गांधीजी तो अपनी धुन के थे। एक बात जो उनके मुँह से निकली कि उसकी पूर्ति चाहते थे। इसे मैंने अच्छी तरह अनुभव किया। अपनी बात को रखवाने के लिए वे अपनी चरम शक्ति लगा देते थे। तब उनके सामने केवल अपनी बातें रहती थीं। किसी की हानि-लाभ, वह चाहे कांग्रेस की ही क्यों न हो, का प्रश्न सामने नहीं ठहरता था। इसके बारे में एक घटना ताजा है। त्रिपुरी कांग्रेस के अवसर पर शक्ति उनके समर्थक पट्टाभि सीतारमैया के हाथ से निकल कर सुभाषचन्द्र बोस के हाथ में चली गयी तो गान्धीजी को इसमें अपनी अवहेलना और अपमान का बोध हुआ था। वह तिलमिला उठे थे और उन्होंने येन-केन प्रकारेण शक्ति को अपने हाथ में रखा। उस समय भी यही बात थी, विद्यार्थियों के स्कूलों कालेजों से निकल जाने के पक्ष में बहुत से बुद्धिमान आदमी नहीं थे। पर गान्धीजी के मुँह से एक बार यह निकल चुका तो फिर वे उसे वापस ले नहीं सकते थे।

उन विद्यार्थियों की पढ़ाई को फिर से चालू करने के लिए कांग्रेस और उससे प्रभावित व्यक्तियों की ओर से विद्यालयों की स्थापना हुई थी। ऐसे एक विद्यालय को प्रारम्भ करने में मैंने भी योग दिया था। इसका कारण यह था कि मैं इस आन्दोलन से तटस्थ था। गान्धीजी

और कांग्रेस को मैं मन ही मन कोस रहा था कि वे आग से खेल रहे हैं। मजदूर किसानों को उनकी ताकत का अहसास हो जायगा तो फिर अपनी कब्र खुदी ही है। साथ ही मैं यह भी चाहता था कि अँग्रेजी सरकार को मेरे प्रति जरा-सा भी मलाल न होने पाये। दरअसल राज भक्त होना मेरे लिए सदा ही गौरव की बात रही है और इस बात को आज गर्व के साथ कह सकता हूँ कि मेरा खानदान तब भी राज भक्त था और अब भी राज-भक्त है। इसलिए मैं अँग्रेजी सरकार के खिलाफ कदम नहीं उठाना चाहता था। पर साथ ही मैं कांग्रेस के नेताओं की भी सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था क्योंकि मैं यह अच्छी तरह समझ रहा था कि जब तक गांन्धीजी के हाथ में कांग्रेस का सूत्र है तब तक वह कभी भी हमलोगों के खिलाफ नहीं जा सकती। दूसरे, कांग्रेस के जो अन्य कर्णधार थे उनमें से अधिकांश हमारे ही वर्ग से आये थे, वे चाहे कोई भी क्यों न हो। और यह हमारे वर्ग की बहुत बड़ी राजनीतिक बुद्धिमानी थी कि उसने सदा में ही कांग्रेस को हथियाये रखा, नहीं तो आज हमलोगों की वक़त दो कौड़ी की हो गयी होती। इसीलिए मैं भीतर ही भीतर कांग्रेसका भी पल्ला पकड़े रहना चाहता था। असहयोग अन्दोलन में मैं और किसी रूप में तो कांग्रेस का हाथ बँटा नहीं सकता था क्योंकि मैं खुले आम ब्रिटिश सरकार की नजरों में चढ़ना नहीं चाहता था, पर जमाने के रुख को देखते हुये भविष्य की बात को मद्दे नजर रखते हुए काँग्रेस में भी अपना वजन रखना चाहता था। इसके लिए मैंने काँग्रेस को छिपे तौर पर चन्दा दिया था, पर वह चन्दा मैंने आन्दोलन चलाने के लिए नहीं दिया, बल्कि विद्या का प्रसार करने के लिए, विद्यापीठ कायम करने के नाम पर दिया था। इसमें एक बात मैंने अपने मन में तय कर रखी थी कि अगर अँग्रेज अफसरों के कान में इस चन्दे की भनक पड़ी तो मैं साफ कह दूँगा कि मुझे

आन्दोलन से कोई ताल्लुक नहीं है, मैंने तो विद्या के प्रचार के लिए यह रकम दिया है।

इस दान का एक रहस्य और था। काँग्रेस के कर्णधारों में मैं अपनी पहुँच रखना चाहता था। इसका एक खास कारण यह था कि मेरी जमींदारी में रोपन का प्रभाव बढ़ रहा था। इस आन्दोलन में उसने इलाके की सारी जनता को उभाड़ा और एक गुट खड़ा किया। प्रभाव तो उसका पहले भी था पर वह धीरे-धीरे काफी प्रभावशाली हो गया। मैंने उसे ज्यों-ज्यों सर करना चाहा था त्यों-त्यों उसके पीछे इलाके की जनता खड़ी होती गयी थी और रोपन की ताकत बढ़ती गयी थी। उसकी वह शक्ति मेरे हृदय में सदा ही शूल की तरह चुभती रही थी। उस आन्दोलन के सिलसिले में मैंने देखा कि सारे इलाके में वह मेरी शक्ति का चैलेन्ज होता जा रहा है। अगर मैं इस आन्दोलन में कुछ काम कर देता हूँ तो उसकी ताकत को अपने इलाके में जमने नहीं दूँगा। इसी बात को सोच-समझ कर मैंने विद्यापीठ के लिए धन दिया था और इस बात की चर्चा अपने आदमियों के द्वारा सारे इलाके में इस तरह से करवाया जिसमें हर आदमी के कान में यह बात जा पहुँचे ताकि मैं भी कह सकूँ कि किसानों की बहबूदी के लिए मैं भी तैयार हूँ। इस बात में खतरा भी था। इस प्रचार का प्रमाण अगर अँग्रेजी सरकार को मिल जाता तो मुझे अपनी सफाई देनी पड़ती, पर भविष्य की स्थिति का अध्ययन करते हुए और गान्धीजी में भरोसा रखते हुए मैंने यह नीति अपनायी और मैं आज कह सकता हूँ कि इस नीति से मुझे लाभ ही हुआ है। आगे चल कर यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि मेरा वह कदम सही रास्ते पर था।

सन् १९२१ का आन्दोलन अपने उग्रतम रूप में चल रहा था। सारे देश में जो जीवन, जो एकता, जो लगन, और जो एकजूट कार्य करने की भावना जागृत हो गयी थी, उसे देखकर आश्चर्य्य होता था।

यह बात जरूर रही कि जनता उसमें सच्चे दिल से शामिल थी। पर नेता वर्ग अपने मतलब को देखकर ही उस आन्दोलन में आया था। नेता वर्ग में अधिकांश आदमी ऊँचे तबके के लोगों में से आये थे। फिर भी सारे आन्दोलन को दृष्टि में रखते हुए यह कहना पड़ेगा कि सामूहिक चेतना का वह उत्कृष्ट रूप जान पड़ता था।

ब्रिटिश सरकार परेशान और हैरान थी कि यदि यह स्थिति और कुछ दिनों तक कायम रही तो उसके लिए कितना मुश्किल हो जायेगा। अगर मजदूरों और किसानों ने अपने बल को पहचान लिया तो फिर उनके ऊपर शासन चलाना असम्भव हो जायगा।

ब्रिटिश सरकार की चिन्ता को सही रूप में समझने में मुझे जगदेव से सहायता मिली। जगदेव उस समय सरकार का कृपाभाजन हो चुका था। गवर्नर तक उसे विश्वास और आत्मीयता की नजर से देखते थे। कलक्टर से वह कमिश्नर हो चुका था। सम्भावना इस बात की थी कि वह गवर्नर की इक्जीक्यूटिव में ले लिया जायगा और कुछ वर्षों के बाद निःसन्देह वह गवर्नर की इक्जीक्यूटिव में पहुँचा। फिर वायसराय की कैबिनेट में और अंत में कांग्रेस के शासन भार सभँालने पर वह गवर्नर नियुक्त हुआ।

आन्दोलन के काल में ही जगदेव कुछ दिनों के लिए आकर मेरे साथ ठहरा था, यद्यपि उसका परिवार अब उसके साथ ही चला गया था। जमींदारी में उसके परिवार वाले भी कम ही आ पाते थे। जगदेव तो खैर बहुत कम आता था। अवश्य ही मेरे साथ उसका भाई-चारा अब भी वैसा ही था। वह मेरा लंगोटिया यार रहा है, जैसी बेतकल्लुफी उसके साथ मेरी रही, वैसी और किसी के साथ नहीं रही है। और आज इस बुढ़ापे में भी उसके साथ मेरा वैसा ही सम्बन्ध है।

जगदेव के आने पर मेरा कार्यक्रम एकदम बदल जाता था। बल्कि यों कहना चाहिये कि सारा का सारा समय सैर-शिकार, आनन्द-

मौज के लिए जैसे रिजर्व हो जाता था। लाख परेशानी हो, लाख हाय-हाय कट-कट हो, लाख चिन्ताएँ हों, उसके साथ रहने पर सभी बाधाएँ-परेशानियाँ जैसे छू-मन्तर हो जाती हैं।

इस आन्दोलन को लेकर मेरे मन में भी काफी दुविधा थी। एक तरफ वर्तमान की चिन्ता, दूसरी ओर भविष्य की आशंका। मेरी स्थिति साँप-छूछुंदर की-सी हो गयी थी। बल्कि यह कहा जा सकता है कि मेरी स्थिति दो नावों पर सवार व्यक्ति की सी हो गयी थी : न एक को छोड़ा जा सकता था, न दूसरे को ग्रहण। ब्रिटिश सरकार और काँग्रेस दोनों के साथ मेरा हित जुड़ा हुआ था। एक के साथ यदि वर्तमान का हित जुड़ा था तो दूसरे के साथ भविष्य के सुख का सम्बन्ध था।

ऐसे ही समय जगदेव मेरे गाँव आया। वह कई महीनों से नहीं आया था। हम दोनों एक दूसरे से मिलने के लिए आकुल-आतुर थे। हम लोगों के मन की गोटी बैठती थी। जब हम लोग बाहरी परेशानियों से ऊब जाते थे, तब एक साथ जुट जाते थे। बचपन के दिनों की याद और वह भी लँगोटिया यार के साथ, इस सुख और सन्तोष की कल्पना वही कर सकता है जिसने इस आनन्द का उपभोग किया हो। कभी बचपन के दिनों की याद, कभी स्कूल के दिनों की शरारतों की याद, कभी चढ़ती जवानी के दिनों के मादक दिनों का स्मरण—जितने दिन हम एक साथ रहते, स्वर्गोपम सुख का उपभोग करते।

अब की बार जगदेव आया तो वह पहले सा ही प्रफुल्लित और मस्त था पर मेरा समय चिन्ता और परेशानियों में कटा था। आते ही उसने व्यंग किया—

"भाई, तुम तो इस समय सूख कर अमहर होते जा रहे हो। तुम्हारे चेहरे पर इस समय पौने आठ बज रहे हैं।"

"मैं भी तुम्हारे सरीखे कहीं का कमिश्नर होता, गवर्नर की

इक्जीक्यूटिव में जाने के लिए गवर्नर का आग्रह होता तो तुम्हारे सरीखे रहता।" कुछ मुस्करा कर मैंने कहा।

पर इस मुस्कराहट में हृदय का आन्तरिक उल्लास नहीं था। "अमाँ, मुझसे मत उड़ो। देश-दुनिया की जो चिन्ता तुम्हें हैं वह मुझे मालूम है। हाँ, यह बताओ क्या आज कल उड़ते पंछियों का कुछ अभाव हो गया है? बिना उनके तो तुम्हारा रंग सदा फीका रहता है। बात कुछ ऐसी ही मालूम होती है।" व्यंग से मुस्कराते हुए मुझे कुछ छेड़ने की गरज से उसने कहा।

नयी-नयी स्त्रियों के लिए हम लोगों ने उड़ती चिड़ियों की संज्ञा दे रखी थी। उसी की तरफ उसका इशारा था।

मैंने कहा—"भई जगदेव, वही तो एक आसरा है। जिस दिन उधर का आसरा उठ जायगा, उस दिन तुम्हारे दोस्त राजा रिपुमर्दन का जनाजा भी उठ जायगा। तब तुम्हें मेरा कुशल-मंगल नहीं पूछना पड़ेगा, बल्कि मेरे नाम पर तुम्हें फातिहा पढ़ना होगा।"

जगदेव—"तो फिर क्या बात है। और फिर किस बात का तुम्हें रञ्ज-गम हो सकता है। तुम तो शहर के अन्देशे से दुबले होने वाले काजी नहीं हो, क्यों?"

मैं—"सच कहता हूँ तुम्हें सारी दुनिया अपनी ही तरह ऐश-मौज में डूबी मालूम होती है। यहाँ तो नाकों दम है। यह जमींदारी क्या है, अब यह दिन पर दिन एक बला होती जा रही है। ऊपर से गान्धीजी का जो यह आन्दोलन चल पड़ा है, उससे अलग परेशानी। भई, सच बात है, मैं तो चाहता हूँ कि अँग्रेजी राज तबतक कायम रहे जबतक चाँद-सूरज का अस्तित्व कायम है, पर इधर कांग्रेस का जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है, उसकी जो शक्ति मालूम होती है उससे मुझे तो यह अन्दाज होता है कि एक न एक दिन ब्रिटिश सरकार का फातिहा पढ़ा ही जायगा। क्यों, तुम्हारी क्या राय है?"

मेरी इन बातों को सुनकर जगदेव का मुँह गम्भीर हो उठा। अभी क्षण भर पहले जो उसका चेहरा चमक रहा था अब वहाँ गम्भीरता का राज था। कुछ क्षण तक वह चुप रहा। फिर अपना पाइप निकाल कर आहिस्ते-आहिस्ते उसने उसमें तम्बाकू भरा। खोया-खोया-सा उसे सुलगाया और फिर दो-तीन कश खींचे। मेरी ओर देखकर बोला—"तुम्हारा अन्दाज सही है। अगले सप्ताह मैं दिल्ली में था। हमारे सूबे के जनाब गवर्नर साहब भी तशरीफ ले गये थे। बल्कि सही बात यह है कि इस सूबे की हालत जानने और कुछ सलाह-मशविरा के लिए गवर्नर साहब दिल्ली बुलाये गये थे। गवर्नर साहब मुझे भी अपने साथ लेते गये। वायसराय साहब की खिदमत में मैं भी हाजिर हुआ। इस आन्दोलन की शक्ति और खास कर किसान मजदूरों की बढ़ती शक्ति को देखकर वे लोग चिन्तित थे। अभी तक उन लोगों को इसका गुमान था कि हिन्दुस्तान में उनका तख्त अचल है, पर यह शक्ति जैसे उन्हें भूकम्प के धक्के-सी लगी हो, अपने को लड़खड़ाता हुआ महसूस कर रहे हैं। भविष्य के लिए शासन की स्थिरता में उनका विश्वास घटता जा रहा है। किसी तरह वे इस आन्दोलन को नाकामयाब करना चाहते हैं। अगर उन्हें भरोसा है तो वह केवल एक ही बात का और वह यह कि इस आन्दोलन की शक्ति यद्यपि आम जनता की है, पर इस आन्दोलन का सूत्र जिन लोगों के हाथ में है वह जनता के आदमी नहीं हैं। वह उसी वर्ग के हैं जो अन्ततोगत्वा शासन का पल्ला नहीं छोड़ सकते। पर उन्हें अन्देशा इसी बात का है कि जनता जब जाग्रत हो जायगी तो किसी भी दिन इन नेताओं का पल्ला अपने कन्धे पर से उतार फेकेंगी और शक्ति का सूत्र अपने हाथों में ले लेगी।"

मैं—"यह अन्दाज तुम्हारा सही है। दूर की बात तो जाने दो, अपने इसी इलाके की बात लो। पिताजीके समय में और हमारे लड़कपन के समय की बात तो तुम देख चुके हो। यही किसान थे, यही मज-

दूर थे। सभी बकरी बने हुए थे। इन्हें लाठी के बल से ही हाँका जाता था। जितना ही इनके ऊपर कड़ाई बरती जाती थी, उतना ही समर्पण करते जाते थे। पर आज की बात दूसरी है।"

जगदेव—"मैं यह तो पूछना भूल गया कि इस आन्दोलन का प्रभाव इस क्षेत्र में क्या है? इधर भी कुछ हलचल है क्या?"

मैं—"तुम हलचल की पूछ रहे हो! इधर मेरा तख्ता ही उलटा जा रहा है।"

जगदेव—"आखिर ऐसी क्या बात आ गयी? कुछ बतलाओ भी सही।"

मैं—"रोपन का नाम तो तुमने सुना ही होगा। अरे, वही भई, लड़ाई में भरती कराने में जिसके सामने मैं हार मान गया था। मारा, पीटा, जाड़े की रात में बाहर एक पैर से खड़े किये रहा, पर 'ना' छोड़ कर 'हाँ' उसने नहीं भरी।"

जगदेव—"अमाँ, वह तो नहीं जिसके ऊपर तुमने फौजदारी का मुकदमा चलाया था। हाँ, तो क्या हुआ उसका?"

मैं—"उस मुकदमे की कहानी तो कभी खत्म हो गयी। उन सब को जेल की सजा भी हुई थी। उसे काटकर वे कभी के वापस आ गये। और सच कहो, तो जिस दिन उसे लड़ाई में भरती कराने के लिए मैंने उस पर दबाव डाला था उसी दिन से जैसे मैंने उसकी शक्ति का द्वार खोल दिया था। उस मुकदमे के सिलसिले में ही उसने इलाके भर के किसानों-मजदूरों का संगठन किया था। अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और अब तो इस इलाके में आन्दोलन का वही कर्णधार है। उसके पीछे इलाके की ही सारी जनता नहीं, बल्कि उसका नाम दूर-दूर तक फैलता जा रहा है। ऊँचे तबके के कांग्रेसी नेता उससे घृणा तो जरूर करते हैं कि यह हंसों में बगुला कहाँ से आ गया, पर अब उसकी उपेक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं। इधर के आदमी उसके साथ जो हैं।"

जगदेव पाइप के कश खींचता जा रहा था। तन्मय होकर चिन्ता-युक्त हो वह सुन रहा था। उसके चेहरे पर एक खिंचाव था और ऐसा अक्सर तभी होता था, जब वह अपने दुश्मन को नेस्तनाबूद करने की योजनाएँ बनाता था।

मैंने आगे कहा—"तुमको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस आन्दोलन के प्रति मेरी सहानुभूति न होते हुए भी मैंने चन्दे के रूपमें छिपे तौर पर कुछ रकम काँग्रेस को दी है।"

चौंक कर उसने पूछा—"यह क्यों, तुम्हें अपने खानदान की राज भक्ति का परम्परा पर विश्वास नहीं?"

"राजभक्ति पर आस्था शत प्रतिशत है", मैंने कहा—"पर इस इलाके में मुझे अपनी स्थिति भी दृढ़ करनी थी।"

"वह कैसे?" उसने पूछा।

"तुमको तो मैंने बताया ही कि इधर सात-आठ वर्षों से रोपन की स्थिति दृढ़ होती जा रही है। एक अदना किसान से बढ़ कर वह इस इलाके की जनता का नेता हो गया है। जनता उस पर जान देती है। मैंने सोचा कि एक लकड़ी मुझे मारनी चाहिये—सरकार की तरफ मेरी सहानुभूति और भक्ति तो है ही, जनता को भुलावे में रखने के लिए इस आन्दोलन के समर्थकों का भी स्नेह भाजन हो जायें। जनता इस तरह भुलावे में आ जायेगी—राजा साहब कुछ भी हों, झुकते उसी तरफ हैं जिधर जनता की बहबूदी हो।

"दूसरी बात यह थी कि मैंने सोचा, अगर कालान्तर में शक्ति सर-कार के हाथ से छिन कर कांग्रेस के हाथ में आयी तो वहाँ भी मेरी पैठ रहेगी। पैठ ही नहीं, बल्कि तब मैं अधिकारपूर्वक वहाँ प्रवेश पा सकूँगा। यह तो मानी बात है कि आज के नेता-वर्ग मेरी उपेक्षा नहीं कर सकते।"

जगदेव—"तुम्हारा यह सोचना तो दुरुस्त है। पर साथ ही उसमें

एक बड़ा खतरा है। अगर सरकार को इस बात की जानकारी हुई तो उसका क्या नतीजा होगा, यह तुम अच्छी तरह समझ सकते हो। मेरी समझ में एक बात आती है। हालाँकि है यह दूर की बात, पर आज के रवैये को देखकर यह स्पष्ट है कि शक्ति जनता के हाथ में नहीं आयेगी, सामन्तों और पूँजीपतियों के हाथ में ही रहेगी और जब शक्ति हम लोगों के ही हाथ में रहेगी तब हम लोगों को कोई खतरा नहीं होगा।"

आगे उसने कहा—"अगर जनता के हाथ में शक्ति जायेगी भी तो वह कांग्रेस के जरिये नहीं। अगर ब्रिटिश सरकार गयी भी तो शासन का सूत्र हमारे वर्ग के हाथ में आयेगा। शक्ति हम लोगों के हाथों में सुरक्षित रहेगी, यह तय है।"

सुन कर मैं कुछ आवश्स्त हुआ।

जगदेव के आ जाने से समय बड़े आनन्द के साथ कट रहा था। सारी चिन्ताओं से जैसे मैं मुक्त हो गया था। सैर-शिकार, ऐश-मौज, सब पुरानी बातें लौट आयी थीं। हा-हा,ही-ही में शेष समय कट जाता था। आनन्दोपभोग के लिए योजनाएँ बनाने और उनको उपलब्ध करने में ही समय बीत जाता था। जगदेव के साथ दो-चार दिन जाकर अपनी बनारस की कोठी पर भी मैं टिका। शहर की कोठी पर आने की बात दूसरी थी। शराब का दौर और वेश्यायों का नाच-मुजरा देखने की यहाँ जैसी सुविधा थी वैसी अपने इलाके में नहीं। घर पर हजार तरह के बन्धन थे। औरतें-बच्चे और साथ ही जमींदारी के झमेले, स्थानीय राजनीति के दाव-पेंच, पर शहर में हर तरह की छूट। अपने मन में जो आये, करो। एक-दो शाम तो गंगा में बजरे पर कटी। साथ में नाच-मुजरा और लालपरी का रङ्ग, वह लुत रहा कि सब परेशानियाँ काफूर हो गयीं।

बाद में मैं दो-चार दिन बाद हम लोग इलाके पर लौट आये। यहाँ

भी दिन वैसे ही कट रहे थे। इसी बीच एक ऐसा समाचार आया कि हम लोग खुशी में उछल पड़े।

गान्धीजी इस आन्दोलन के सर्वेसर्वा थे। उन्होंने आन्दोलन को केवल राजनीतिक आधार पर ही नहीं चलाया था, बल्कि उनका मुख्य आदर्श आध्यात्मिक था। उन्होंने इस बात का स्पष्ट ऐलान किया था कि 'इस आन्दोलन में अहिंसा का पालन अनिवार्य है, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी काल में। आन्दोलन में हजार बार असफलता हमें स्वीकार है, पर यह नहीं हो सकता कि असिा धर्म के मार्ग से हम जरा भी विचलित हों।''

सही बात यह है कि मेरी नजरों में गान्धीजी राजनेता के रूप में उतने खरे कभी भी नहीं उतरे जितने कि धर्म-नेता के रूप में। अगर वह राजनीति के पचड़े में न पड़े होते और धर्मगुरु ही बने रहते तो उनके हक में और भी अच्छा रहा होता। वैसे उन्होंने इधर भी घाटे का सौदा नहीं किया।

चौरीचौरा में उत्तेजित जनता ने थाने को जला दिया था। उसमें थाने के सिपाही और मुंशी को जान से हाथ धोना पड़ा था। गान्धीजी को जब इस घटना का समाचार मिला तो उन्होंने उस आन्दोलन को स्थगित कर दिया था। जैसे ही हम लोगों को इस बात का समाचार मिला हम लोग खुशी में उछल पड़े।

जगदेव ने ठहाका मार कर कहा था—''लो, आखिर इतना बड़ा आन्दोलन टॉय-टॉय-फिस हो गया। इसे कहते हैं किस्मत का खेल। अजी, अभी हम लोगों का सितारा बुलन्द है।''

मैंने भी हँसते हुए उत्तर दिया—''और तभी तो हम हम लोगों को गान्धीजी ऐसे नेता मिले हैं। अगर उनकी जगह पर कोई दूसरा रहता तो इस अदना-सी बात पर नज़र ही नहीं डालता। अगर ऐसी ही सफाई देनी आवश्यक होती तो स्थानीय गतिविधि पर नियंत्रण करते

न कि सारे आन्दोलन को उस एक अदना-सी घटना से बन्द कर देते।"

जगदेव—"रीपू, जरूर इसमें कोई रहस्य की बात है गान्धीजी इतने बेवकूफ नहीं हैं कि इस घटना को इतना महत्व देते। अवश्य कोई बात ऐसी ही है जिससे गान्धीजी इस आन्दोलन को बन्द करने का बहाना ढूँढ़ते रहे हों।"

मैं—"बात तो तुम पते की कह रहे हो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि गान्धीजी इस बात की ताक में रहे हों कि मौका मिले और इस आन्दोलन को बन्द कर दें। नहीं तो जिस व्यक्ति के पीछे करोड़-करोड़ जनता का बल हो, करोड़-करोड़ जनता संगठित होकर जिसके पक्ष में उठ खड़ी हुई हो, जो उसके एक इशारे पर अपना सर्वस्व निछावर करने की बाट जोह रही हो, फिर इतनी बड़ी ताकत पाकर इसर तरह पीठ दिखा जाने में जरूर कोई रहस्य है।"

जगदेव—"जहाँ तक हम लोग देख रहे थे गान्धीजी की मंशा यही मालूम हो रही थी कि शक्ति उनके हाथ में ही बनी रहे। गान्धीजी ज्यादा दूर तक जाना भी नहीं चाहते थे और इस आन्दोलन के सिलसिले में आम जनता की ताकत बहुत ज्यादा बढ़ गयी थी। सभी जाग्रत हो उठे थे। गान्धीजी के सम्हाले नहीं सम्हल रहा था,। कहीं गान्धीजी ने ऐसा तो नहीं सोचा कि यह जाग्रत जनता मेरा नेतृत्व अस्वीकार कर दे, कहीं यह किसी दूसरे को वरण न कर ले, फिर वे कहीं के न रहेंगे और इसलिए उन्होंने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया हो। क्यों?"

जगदेव की बातों में मुझे सार नजर आया। तो कौन ऐसा होता जो नदी की बाढ़-सी उमड़ती जन-शक्ति को इस तरह ब्रेक लगा देता। इसमें कोई शक नहीं कि इसमें हम लोगों का अमिट कल्याण हुआ है। हम लोगों की डगमगाती नैया सम्हल गयी। मैंने कहा—

"तुम्हारी बातों में वजन है। नहीं तो तुम्हीं बताओ, इस आन्दो-

लन से आसमुद्र-हिमाचल भारत भूमि आन्दोलित हो उठी थी। बच्चा-बच्चा आज कटिबद्ध हो उठा था। क्या इस छोटी सी घटना को इतना महत्व दिया जा सकता है कि इतना बड़ा आन्दोलन स्थगित कर दिया जाय? विशाल महल की अगर एक ईंट कहीं से उखड़ गयी तो इसमें कौन तथ्य है कि सारे महल को जड़ से खुदवा कर फेंक दिया जाय। हाँ, यह बात तभी होती जब उस महल पर से अपनत्व की भावना मिट जाय।"

इस आन्दोलन को स्थगित कर देने से जहाँ हम लोगों की खुशी का पारावार नहीं था, वहाँ जनता और काँग्रेस में उनके कुछ समर्थकों में काफी क्षोभ उत्पन्न हो गया था। गान्धीजी की ईमानदारी में उन्होंने शुबहा ज़ाहिर किया। उन्होंने उन्हें स्वार्थी करार दिया जिन्होंने अपना नेतृत्व बनाये रखने के लिए इतने बड़े आन्दोलन को कहीं कर नहीं रखा।

तेज चाल से चलती हुई रेलगाड़ी को जैसे एकाएक रोक दिया जाय और गाड़ी उलटते-उलटते बचती है, सारी गाड़ी उस झटके से झनझना जाती है, कुछ इसी तरह का हाल इस आन्दोलन को एकाएक बन्द कर देने से हुआ था। उसके विरोध में सभाएँ हुई थीं। लोगों ने अपना प्रतिरोध प्रकट किया था। गान्धीजी की सद्भावना पर उसमें हस्तक्षेप था।

आज मैं सच्चे दिल से स्वीकार सकता हूँ कि हालाँकि गान्धीजी के किसी भी कार्य से हमारे हितों को हानि नहीं पहुँची, मात्र इतना कि उन्होंने सोयी जनता को उभाड़ दिया, पर साथ-साथ उभाड़ कर उन्होंने उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। उनके ऊपर मेरा दोषारोपण इतना ही है कि उन्होंने जनता को उभाड़ दिया नहीं तो उनकी सारी जिन्दगी के कार्यों का मैं लेखा-जोखा करता हूँ तो उसमें मुझे ऐसी कोई बात नज़र आती कि जिसके लिए मैं उन्हें कोसूँ।

इसके साथ ही उनकी कुछ बातें तो मेरी समझ में कभी नहीं आयीं। मैं उन बातों की उधेड़-बुन कर यह निर्णय नहीं कर सका हूँ कि इसमें तथ्य कहाँ तक है ?

मसलन मैं उनके सादा जीवन के बारे को ही लेता हूँ। उन्होंने सारी जिन्दगी इस बात की घोषणा की कि उनका जीवन गरीबी का जीवन है। पर समझने वाले इस बात को समझते हैं कि उनकी तरह का सादा जीवन व्यतीत करना इतना खर्चीला रहा है कि साधारण किसान-मजदूर उसकी छाया तक ही नहीं पहुँच सकते। कहने के लिए तो वे छः पैसे में गुजारा करते थे, पर दिन भर अपने ऊपर फल, दूध वगैरह में जितना वह खर्च करते थे, क्या साधारण आदमी उस खर्च को बर्दाश्त कर सकता है ?

इसी तरह वे रेल-यात्रा में तीसरे दर्जे में सफर करने के ही हिमायती रहे। अपनी जिन्दगी में मैंने तीसरे दर्जे का कभी मुँह नहीं देखा। केवल एक बार जब गान्धीजी बनारस आये थे, उनके साथ दो-तीन स्टेशनों तक मैं उनके डिब्बे में चला। कहने को तो वह तीसरे दर्जे का ही डिब्बा था, पर उसकी सुविधा पहले दर्जे से किसी भी हालत में कम नहीं थी। यद्यपि तीसरे दर्जे में मैंने सफर नहीं किया है पर उससे परिचित तो हूँ ही। जिस कदर कम्बख्त उसमें ठस कर बैठते-खड़े होते हैं कि भेड़ों का बाड़ा भी उसके सामने झूठा पड़ जाता है। इस कदर धक्का-धुक्की, गाली-गलौज, तूँ-तूँ, मैं-मैं, अबे-तबे, तथा उठा-पटक होती है कि प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े देखने में कभी-कभी तो शरमाना पड़ता है और कभी बड़ा मजा भी आता है। इसके सिवा कुछ तो हैन्डिल पकड़ कर सफ़र कर लें, इसमें भी अपना अहो-भाग्य मानते हैं।

अब गान्धीजी के थर्ड क्लास के सफ़र की तो इनसे तुलना की जाय

कैसा रहे ? अगर गान्धीजी को ऐसे डिब्बों में चलने की बाध्यता रही होती तो ?

पर अपने को इससे क्या लेना-देना रहा है। उनकी सारी गतिविधि तो हमारे पक्ष में ही रही है। कुछ गलतियाँ उन्होंने जरूर कीं जिससे हम लोगों का थोड़ा बहुत अहित हो गया, पर सब मिलकर तो वह हम लोगों के शुभचिंतक ही रहे। उनके आखिरी दिनों तक का लेखा-जोखा भी यही कहता है कि वे हमारे दुश्मन नहीं, दोस्त ही रहे ?

शीर्षक ???

असहयोग आन्दोलन बन्द हो चुका था। सारे देश में एक निराशा का वातारण छाया था। यह निराशा खासकर किसानों, मजदूरों, विद्यार्थियों अध्यापकों, निम्न और मध्यम श्रेणी के लोगों में थी। मेरे सरीखे लोग जो उच्च वर्ग के थे, उनके लिए कोई खास बात नहीं थी। वे तो खुशी में ही थे। देश में अँग्रेजी शासन बरकरार रह गया। वह शासन, जिसमें बड़ों के बड़प्पन का ख्याल रखा गया, श्रीमानों की मर्यादा का ध्यान रखा गया, उनकी इज्जत-आबरू की रक्षा की गयी, इससे उच्च वर्ग के लोगों का खुश होना स्वाभाविक ही था।

मैं भी मन ही मन प्रसन्न था। मुझे इस बात की प्रसन्नता और सन्तोष था कि काँग्रेसवालों को विद्यादान के नाम पर मैंने जो रकम दी थी, इस गुप्त सहायता का प्रचार काँग्रेस वालों और आम जनता में तो मैंने खूब किया था, पर सरकारी अधिकारियों से इस बात को मैंने छिपाया था। सरकारी अधिकारियों एवं अँग्रेज अफ़सरों को इस बात का सपने में भी गुमान नहीं होने पाया कि मैंने भी किसी कदर कांग्रेस की मदद की। वास्तव में यह मदद तो मदद थी नहीं, वह तो एक चाल थी। राजनीति में कौन किसका दोस्त-दुश्मन रहता है? वह तो मौके की

बात है। जिसका पलड़ा भारी पड़ा उधर झुक गये, जो हलका पड़ा उसे झटकार फेंका। जो उठ कर आगे बढ़ रहा है उसका पल्ला पकड़ कर साथ हो लिये, जो लुढ़क कर गिर गया उसे एक ठोकर और दे दी। बुद्धिमान आदमी का यही फर्ज है। मैंने तो सदा इसी बुद्धिमानी को निभाया है। तभी तो अँग्रेजों के शासन और कांग्रेसियों के शासन में, दोनों ही जगह अपने राम मौज करते रहे। मसल मशहूर है कि शक्करखोर को शक्कर और मूँजी को टक्कर मिलती रहती है, वही हाल रहा। यहाँ तो सदा ही अपने राम का सितारा बुलन्द रहा।

पहली लड़ाई के बाद जो संसारव्यापी मन्दी फैली थी उसका असर वर्षों तक कायम रहा। हिन्दुस्तान की हालत तो और भी निराशाजनक हो गयी थी। इसका कारण यह था कि लड़ाई खत्म होने पर एक तो मन्दी का दौर बढ़ा था, दूसरे असहयोग आन्दोलन और गान्धीजी द्वारा उसके स्थागित किये जाने से सारा ढाँचा ही जैसे छिन्न-भिन्न हो गया था। कांग्रेस का संगठन भी कमजोर हो जा रहा था। उसमें दो दल उठ खड़े हुए थे, एक कौन्सिल में जाने के पक्ष में था और दूसरा उसके विरोध में। उनमें आपस में शक्ति की आजमाइश हो रही थी।

दूसरी ओर गाँवों की जनता अपनी समस्याओं में उलझी थी। मैं इस बात बात को आज बिना किसी हिचक के कह सकता हूँ कि वह समय अन्य लोगों के लिए जैसा भी क्यों न रहा हो, पर जमींदारों के लिए तो वह स्वर्ण युग था। किसान खासतौर पर तबाह हो रहे थे, इसका कारण स्पष्ट था। खेती से उत्पन्न होने वाली चीजों का मूल्य दिन पर दिन घटता जा रहा था, पर लगान की दर वही थी जो पहले थी। इस सिलसिले में उस समय की एक घटना का मैं उल्लेख करना चाहता हूँ, जिससे उस समय की किसानों और साधारण मजदूरों की स्थिति पर प्रकाश पड़ेगा। यह प्रकाश में इसलिए नहीं डाल रहा

है कि मैं उनका हमदर्द हूँ, हमदर्दी तो दूर की बात, मेरा वश चला होता तो उन्हें पीस कर पी गया होता। बल्कि उन्हें तकलीफ और कष्ट में देख कर ही मुझे आनन्द आता रहा है, अपने दुश्मनों की परेशानी से कौन आनन्दित नहीं होगा। शिकारी जब शिकार मारता है तब शिकार को तड़प-तड़प कर दम तोड़ते हुए देखकर उसे परम सन्तोष होता है, उसे अपनी शक्ति और अपने पौरुष का अहसास होता है, इसी तरह जब शत्रु पराजित होकर हाथ-पैर पीटने लगता है, उसकी नस-नस ढीली हो जाती है, तो दुश्मन के इस सन्ताप से ही कलेजा ठंढा होता है, यही हाल मेरा उस समय था।

पिताजी की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद बूढ़े दीवान हट गये थे। वे पिताजी के अनुभवी मुन्शी हरदेव सहाय के भाई थे। अब उनका लड़का दीवान हो गया था। वह जगदेव का चचेरा भाई लगता था। पिताजी की मंशा तो जगदेव को ही दीवान बनाने की थी, उसका पैतृक हक था, पर जब वह एक पर एक परिक्षाएँ पास करता जा रहा था, उसी समय पिताजी उसे निराश हो गये थे कि यह लड़का अब मेरे हाथ से निकला। बल्कि इसी आशा पर उन्होंने जगदेव के चाचा को दीवान नियुक्त किया था कि जब जगदेव पढ़-लिख कर बालिग हो कर दीवानी का काम सम्भालेगा, तब तब के लिए उसके चाचा काम काज देखते रहें। पर जगदेव की महत्वाकांक्षा से पिताजी निराश हो चुके थे। उसके चाचा ही कुछ दिन तक दीवानी के पद पर रहे। उसके बाद में उनका लड़का दीवान हो गया था। उसकी उम्र मुझसे पाँच-सात वर्ष कम थी।

सही अर्थों में देखा जाय तो पहली लड़ाई के बाद से ही जमींदारी और दीवनी का वह रूप नहीं रह गया था जो पहले था। पिताजी के समय की बातें जाने भी दूँ, तो भी मेरे कारबार सम्हालने के प्रारंभिक काल में वही पुराना स्वर्ण युग था जिसमें हमारी स्थिति सर्वोपरि थी

और उसके बाद शक्तिमान दीवान ही होते थे। बल्कि जहाँ कहां जमींदारी या स्टेट में राजा, तालुकेदार, जमींदार कुछ कमजोर पड़ते थे, वहाँ दीवान ही सर्वेसर्वा हो जाता। राजा तो मात्र अपनी मुहर लगाने के लिए ही रहता था। मेरी जमींदारी में यद्यपि वैसी स्थिति कभी नहीं आयी, पर इतना तो तय है कि जगदेव के पिताजी ने जो दीवान-गीरी की, जो वह तपे, जो शासन-सुख भोगा, वह बहुत कम लोगों को नसीब हुआ। पर जो अन्य दीवान हुए उन लोगों ने भी अपना कम रुआब नहीं रखा। जमींदारी में द्वितीय स्थान उन्हीं का होता था।

अब लड़ाई और आन्दोलन के बाद यद्यपि किसानों, मजदूरों में जागर्ति आ चुकी थी, समय के साथ वे अपने अधिकारों के लिए दृढ़ होते जा रहे थे। उनमें आत्मसम्मान की चेतना बल पकड़ती जा रह थी, और उस समय तो यही अन्देशा था कि कहीं ये दो-चार वर्षों में भी हमलोगों को न उखाड़ फेंकें। पर हमलोगों की स्थिति सम्हल गयी और उसका कारण विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी थी।

जगदेव का चचेरा भाई नरदेव सहाय भी कम तपाक वाला नहीं था। पढ़ा-लिखा था, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० किये था। पढ़ाई-लिखाई के साथ उसमें अनुभव था, सूझ-बूझ थी, काम बना लेने की ताब थी और सबसे बड़ी बात, अवसर से लाभ उठाने और समय पहचानने की उसमें माद्दा थी। दीवानी के पद पर काम करने से अनुभव भी हो गया था।

किसानों और मजदूरों की गिरती हुई स्थिति को उसने लक्ष्य किया।

जमींदारी के कागज-पत्रों को हम लोग समझ-बूझ रहे थे। इसी समय नरदेव ने कहा—"भाई साहब यह मौका ऐसा हाथ आया है कि जिसमें हम लोग इन किसान-काश्तकारों को कुछ मजा चखा सकेंगे।"

यह मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ कि दीवानजी के साथ हमारे परिवार के साथ हमारे परिवार का भाई-चारे का सम्बन्ध चल रहा था। नौकर-मालिक का सम्बन्ध कभी नहीं रहा। आपस में पुकारने के नाते भी घरेलू ही होते थे। बल्कि बुजुर्गी और छोटाई का नाता चलता था। इसलिये नरदेव मुझे भाई साहब कहता था। जगदेव के पिताजी को मैं चाचाजी कहता था। पिताजी की बात टाल सकता था पर उनकी बात नहीं। उनके प्रति जो आदर और श्रद्धा मेरे मन में रही वह और किसी के प्रति नहीं।

मैं बकाया लगान का नया खाता देख रहा था। नरदेव की बात सुनकर मैंने सर उठाकर उसकी ओर देखा।

उसने आगे कहा—"आप देख रहे हैं कि कितनी लगान बकाया पड़ी है। यद्यपि हमारे कारिन्दों और प्यादों ने इसे उगाहने की हर चन्द कोशिश की, पर वसूल नहीं हो पा रही है। सही माने में, उन कम्बख्तों के पास कुछ है ही नहीं कि दें। अब हर एक पर बकाया लगान की नालिश करके उनका लोटा-थाली बिकवा दूँगा। तब वे सदा के लिए ठण्ढे पड़ जायँगे।"

मैं—"महीपतपुर वालों की लगान वसूली का हिसाब जरा दिखाना। मैं तो चाहता हूँ कि उस गाँव वालों पर साल ब साल नालिश करने के बजाय एक-एक किश्त की बकाया लगान की नालिश की जाय। मैं उस गाँव को नेस्तनाबूद कर देना चाहता हूँ और उस हरामजादे रोपन का क्या हाल है। अब लीडरी नहीं करेगा?"

नरदेव—"बकाया लगान? उसके यहाँ तो आधी लगान पड़ी है। मैंने खुद ही पटवारी को बुलाकर सारे गाँव का इन्तखाब दे देने के लिए कह दिया है। इन्तखाब आते ही हर एक पर बकाया लगान की नालिश ठोंक दूँगा।"

नरदेव का मुँह कड़ुवाहट से कुछ विकृत-सा हो गया। उसने आगे कहा—"सब कुछ हुआ, पर उसकी हेकड़ी अभी दूर नहीं हुई। जब मैंने उससे पूछा कि लगान क्यों नहीं अदा कर रहे हो, तो उसने कहा—खेतों में इतनी उपज नहीं हो रही है कि लगान चुकायी जाय।"

"मैंने रूखेपन से कहा—तो दे दो स्तीफा सारी जमीन का, तुम्हारे प्राणों का संकट छूट जाय। मैं उसका दूसरे असामी को बन्दोबस्त कर दूँगा। इस पर वह कहने लगा कि दीवानजी किसान अगर खेत छोड़ दे तो कहाँ उसका ठिकाना रहेगा? मैंने कहा, तो हम लोगों ने क्या संसार सारे किसानों को पालने-पोसने का ठेका ले रखा है। आखिर हमें भी तो सरकारी लगान चुकानी पड़ती है।"

"उसकी लीडरी की बू नहीं दी जा रही है।" मैंने कहा—"यह नहीं कहा तुमने कि तुम बहुत बड़े लीडर बनते हो, तमाम दुनिया को सुधारने का ठेका लिये फिरते हो और लगान तक चुकता नहीं कर सकते। कानून के चंगुल में जिस दिन पड़ोगे उस दिन लीडरी का हाल मालूम हो जायगा। क्रोध से मैं तिलमिला उठा था। मैंने आगे कहा—"और सही बात है नरदेव कि इस मौके पर उसे उखाड़ फेंका जाय तभी बुद्धिमानी है। इस बकाया लगान के सिलसिले में उसका लोटा-थाली, घर-बार सब बिकावा दो तभी उसे मालूम होगा। पेड़ के नीचे रहना पड़ेगा। क्या कहें वह पहला जमाना नहीं रहा नहीं तो जमीन खोदवाकर उसे जिन्दा ही गड़वा देता। अब सरकार भी एक न एक कानूनी अड़ङ्गा लगाये रहती है। नहीं तो उसका नाधा-पैना तुड़वा देता। फिर इस जमींदारी में उसका कहीं ठिकाना नहीं लगता, पर सरकार बैल और खेती का सामान नीलाम नहीं करने देती।,,

नरदेव ने कहा—"बात आप सही कह रहे हैं। फिर भी अगर हल-बैल नीलाम नहीं होता तो क्या? एक-एक किश्त की बकाया लगान उस पर ठोकता हूँ। एक बात आप को बताऊँ। जब मैं महीपतपुर में पहुँचा, गाँव

के सभी लोगों को वह बटोर कर ले आया और बोला कि लगान में हम लोगों को छूट मिलनी चाहिये।"

मैंने पूछा—"वह क्यों?"

उसने कहा—"खेती में पैदा होने वाली चीजों का दाम घट गया है, पर लगान जैसी की तैसी है। गुड़ का भाव १८–२० सेर पहुँचा है। गेहूँ-जौ तीन पसेरी के हो गये हैं। बाजरा, मकई, ज्वई वगैरह चार-पाँच पसेरी पर हैं। सावाँ-कोदो की कोई पूछ ही नहीं। और जिन्सों का भी यही हाल है। फिर खलिहान से ही सारा गल्ला महाजन के घर पहुँच जाता है, तो भी लगान पूरी नहीं पड़ती।"

"आखिर हमारे पास जब रहेगा तभी तो देंगे। किसानों के पास खेती की उपज के सिवा और क्या है। अनाज के भाव के अनुसार ही खेत की लगान तय होनी चाहिये। एक तो यही अँधेर है कि जमीन जोते-बोये कोई दूसरा, बीच में दलाली के तौर पर लगान पाये कोई और। फिर लगान की दर ऐसी उँची कि चुकाने के लिए खलिहान से ही छटाँक-छटाँक अनाज बिक जाय! साल भेंटने के लिए किसानों को कुछ न रह जाय। यह कहाँ का न्याय है? आदि वह बकने लगा।"

उसकी बातों को सुन कर मुझे क्रोध आ रहा था। नरदेव से मैंने कहा—"तुमने यह क्यों नहीं कहा कि यह फिलासफी कहीं और जाकर बघारना। जमींदारी का खेत बोओ-जोतोगे तो तुम्हारे मरे मुर्दे से भी हम लगान वसूल करने की ताकत रखते हैं।"

"कहने लिए क्या मैंने कुछ उठा रखा"—नरदेव ने कहा—गाँव वालों के सामने ही मैंने पटवारी को बुलवाया और इन्तखाब देने के लिए कहा। पटवारी तो इस मौके को ढूँढ़ ही रहा था, बल्कि उसने कई बार पहले भी मुझसे कहा था कि दीवान साहब इन्तखाब ले लीजिये। बकाया लगान का दावा कीजिये। इस तरह ये मानने वाले नहीं हैं।"

मैं—"नरदेव, यह पटवारी तो अपना ही है। पूरी वफादारी

निबाह रहा। है तो अभी लड़का, पर है अपने फन का पूरा उस्ताद। जब इसका बाप पचपनसाला में पटवारीगीरी की नौकरी से हटा दिया गया तो इस लड़के को लेकर मेरे पास आया था और बोला—'सरकार मैंने अपनी जिन्दगी भर हुजूर की गुलामी की। जहाँ तक बन सका नमक अदा कर दिया। अब यह लड़का आपकी खिदमत करेगा। पटवारियान का इम्तहान पास कर चुका है। अब इसकी बहाली के लिए यह जरूरी है कि जमींदार की हैसियत से आप इसकी लिखित सिफारिश कर दें। यह लड़का भी मेरी तरह जी-जान से जमींदारी की सेवा करेगा। हम लोगों का खान्दान तो हुजूर ही के परिवार के नमक से पला है। हमारी नसों में तो वफादारी का खून बह रहा है। यह लड़का भी वैसा ही निकलेगा। आप इसके लिए सिफारिश कर दीजिये।

और आज मैं देखता हूँ कि उस पटवारी की बात सत्य निकली। सच है, खान्दानियत का असर नहीं जाता।"

मेरी इस बात पर नरदेव ने मुस्कुराकर कहा—

"भाई साहब, आप यह क्यों भूलते है कि हजार वफादारी की जड़ एक पैसा है। मैं यह जरूर कहूँगा कि यह पटवारी भी जी-जान से हमारा खैरख्वाह है। पर इसकी नालिश की सलाह में उसका फायदा भी तो छिपा है। इन्तखाब की सरकारी उजरत दो आना नम्बर जो है वह तो वह पायेगा ही, उसके साथ ही और भी कुछ न कुछ हाथ लगेगा। दूसरी बात यह है कि यह पटवारीगीरी, जमींदारी से कम नहीं है। बारह चौदह रूपये माहवार की आमदनी से ही तो उसने पक्की हवेली नहीं खड़ी कर ली है!"

"खैर कुछ भी हो"—मैंने कहा—"अपने को इससे क्या, बल्कि अपने लिए तो इसमें अच्छा ही है कि वह इन काश्तकारों की नाक में नकेल डाले रहता है। बल्कि उसकी वजह से जमींदारी की लगान

भी काफी बढ़ गयी है। इसका बाप तो बस जी-हुजूरी और खुशामद-बरामद तक ही बात खत्म कर देता था। कोई भी बात कहो, बस तुरन्त ही कह देता था 'हाँ।" पर इसके आगे नहीं। तंदेही से वह काम नहीं कर पाता था जितना कि उसका यह लड़का करता है। हर गाँव के किसान-काश्तकार गैरमजरूआ जमीन को आबाद करते जा रहे थे। साथ ही मैं यह जानता हूँ कि इसमें हमारे कारिन्दों और प्यादों की साजिश रहती थी। अपनी जेबें गरम कर लेते थे। नजर-नजराना ले लेते थे और इस तरह जमींदारी का आमदनी का नुकसान होता जा रहा था। पर जब से यह पटवारी हुआ है, क्या मजाल कि कोई काश्तकार कहीं जमीन दबाये बैठा हो। तुरन्त उसकी रिपोर्ट हम हम लोगो के पास कर देता हैं। फिर मैंने उसको निबाहा भी खूब है।"

नरदेव—"अभी तो इसी साल की बात है न। डिप्टी साहब जब इलाके में आये, परताल करने के लिए निकले, मैं भी उनके साथ ही एक ही हाथी पर बैठा था। जिस गाँव में जायँ इन्दराज गलत। उसमें गेहूँ की फसल का उल्लेख है। किसी में अरहर हैं तो उसमे चना लिखा है। किसी में मटर है तो उसमें ईख लिखी है। इस तरह सब गलत।"

"और गलत हो क्यों न, उसके परताल करने का ढंग भी निराला है। छावनी पर आ बैठता है और वहीं बैठे-बैठे अन्दाज से सब परताल कर डालता है। बहुत हुआ तो किसी प्यादे को बुला लिया और प्यादे ने जैसे बताया वैसा परताल कर दिया। अक्सर ऐसा भी हो जाता है कि सिकमी खेतों का इन्दराज गलत हो जाता है। इसका उसके नाम, उसका इसके नाम। अगर खेत-बावली और तालाब-पोखर से भरा गया है तो वहाँ कुएँ की भरायी दर्ज की गयी है। कुएँ से हैं तो तालाब और पोखर की भरायी लिख जाती है। मौके पर तो जाता नहीं है। पर, खैर अपना इससे क्या बनता-बिगड़ता है।"

"हाँ, तो उस परताल में जब सभी इन्दराज गलत निकलने लगे

तो डिप्टी साहब बहुत बिगड़े। खसरा उसके ऊपर फेंक मारा। बोले, अभी तुम्हें मुअत्तल करता हूँ। सरकारी तनख्वाह लेता है और काम कुछ नहीं। उसने डिप्टी साहब की बहुत आरजू-मिन्नत की पर डिप्टी साहब टस से मस नहीं हुए। तब उसने मौका पाकर मुझसे कहा—'हूजूर डिप्टी साहब को समझा दें। मेरी नौकरी चली जायेगी।'

मैंने डिप्टी साहब को समझाया—'जाने दीजिये बड़ा वफादार पटवारी है। मैंने आप का नाम ले लिया-राजा साहब उसे बहुत मानते हैं और बात सोलहों आने सच भी है। आपकी ही मेहरबानी से वह पटवागीरी पर टिका हुआ है नहीं तो कभी का बर्खास्त हो गया होता।''

''दरअसल मेरी उसके ऊपर सदा ही निगाह बनी रही। एक तो वह जमीदारी के हित में अपनी जान कुर्बान करने के लिए तैयार रहता था। दूसरे, बात करने में ऐसा निपुण था कि जो चाहता था वह मुझसे करा ही लेता था। मैंने नरदेव से कहा—''नरदेव, निसन्देह मैं उसे मानता हूँ। अगर डिप्टी साहब उसे नहीं रखते तो बड़े साहब से कह कर उसे बहाल करा देता।''

''हाँ, तो इन्तखाब वगैरह सब लेकर उन सब पर बकाया लगान की नालिश ठोंक दो।''

नरदेव—''इधर यह भी पता चल रहा है कि वह इलाके वालों को बहका रहा है कि लगान कम करने के लिए मामूहिक रूप से जोर डालें। इस सम्बन्ध में उसने जिले के कलक्टर के पास भी दरख्वास्त भेजी है, पर एक प्यादा कह रहा था कि उसकी मंशा और आगे जाने की है। उसकी बातों से मालूम हुआ कि वह इस बात को समझे-बूझे है कि कलक्टर साहब के यहाँ उसकी सुनवाई इस तरह नहीं होगी।''

''तो फिर ?'' मैंने पूछा।

नरदेव ने कहा—''वह कहता है कि लगान को उपज पर निर्धारित करना होगा। इस जमाने में जब खेतों से उत्पन्न अनाज का भाव एक

दम गिर गया है लगान में अगर छूट नहीं दी जायगी तो लगान कैसे अदा होगी। इस सम्बन्ध में मुझे एक और बात मालूम हुई है।"

नरदेव की बात का अन्दाज मैं नहीं लगा पाया। मैंने उससे पूछा—"क्या बात?"

"सुना है कि अगर लगान में छूट नहीं दी जायगी तो वह लगान-बन्दी का आन्दोलन चलायेगा।" नरदेव ने कहा।

सुनकर मैं सन्न रह गया। पर मुझे क्रोध भी आया। मैंने कहा—"तो कर दे लगानबन्दी, तभी तो मजा आयेगा।"

कहने के लिए तो मैं जरूर कह गया। उस समय क्रोध के आवेश में था, पर तुरन्त ही मेरी मति स्थिर हो गयी। मैंने सोचा कि यह रोपन ऐसा नहीं है जो किसी बात से आसानी से मुकर जाय। यह कमबख्त जैसे फौलाद का बना हो, कितना ही आग में तपाओ अपनी टेक नह छोड़ता, आगे मोड़ो, पीछे मोड़ो, घन से पीटो, पर अपनी असलियत वह नहीं छोड़ता। कुछ इसी तरह का यह आदमी है। कोई उसे जानता तक नहीं था। उस समय भी मैं उससे अपनी न करवा सका। लड़ाई में भरती होने के मामले में मुझे उसके सामने हार माननी ही पड़ी। फिर उसी जमाने में मार-फौजदारी की, सब कुछ किया। साल-छ महीने जेल भी उससे कटवायी, पर वह टूटा नहीं, जैसे हर बार वह कठिनाई और परेशानी झेल कर और भी निखरता गया और साथ ही और भी दृढ़ होता गया हो। फिर काँग्रेस के आन्दोलन के सिलसिले में उसने तो मुझे मात दे ही दी। दो कौड़ी का आदमी और सारे जवार में उसने अपनी पूजा करवा ली, बल्कि यहाँ तक कह सकता हूँ कि उसने मुझसे अपना लोहा मनवा लिया। मेरा काम तो लोग डर-भय से करते रहे हैं, पर किसान-काश्तकार, मजदूर-मोटिया उस पर जैसे जान देते हों। उन पर उसका जैसे जादू चल गया हो। सब जगह जहाँ देखो उसी का नाम जबान पर। और मैं मानता हूँ कि है कलेजे का आदमी, नहीं तो राजा रिपु-

मर्दन से टक्कर लेकर कितने खत्म हो गये, कितनों के वंश का चिराग बुझ गया, कितने दर-दर के भिखारी बन गये, कितने देश-जवार छोड़ कर अन्यत्र चले गये। कितने किसान-काश्तकार जगह-जमीन से हाथ धो बैठे और मेहरी की नथिया बेचकर कलकत्ता-बम्बई पकड़ लिये और वहाँ कुली-कबाड़ी का काम करके पेट भरने लगे। पर यह रोपन ही एक ऐसा रहा कि मेरी चपटे में आकर भी बच गया। और बचता क्या, सही बात कहूँ तो उसके धक्के से मुझे कितना नीचा देखना पड़ा है। मेरी कितनी जग हँसाई हुई है! मेरी मान-प्रतिष्ठा, पद-मर्यादा पर कितना धक्का लगा है और इसी को लेकर ही तो जमींदारी का रूआब खट्टा पड़ गया है। जिनकी ओर ताक देने भर से उनको पेशाब उतर जाता था, अब वे सामने खड़े होकर सवाल-जबाव करते हैं।

इन सब बातों को सोच-समझ कर कर मन ही मन मैं आशंकित हो उठा। नरदेव से मैंने कहा—"अगर बात सच है, तब तो निसंदेह हम कठिनाई में पड़ेंगे।" नरदेव—"यह रोपन अब मुट्ठी में नहीं आता, पर हम लोगों को इसकी दवा अभी से करनी चाहिये।"

"क्या दवा करेंगे।" निरूपाय-सा मैंने पूछा।

"न हो तो कलक्टर साहब के कान में यह बात अभी से डाल दी जाय कि इलाके के काश्तकार बलवा करने पर उतारू हैं। लगान देने से साफ इनकार करते है।" नरदेव कहा।

"पर अगर वे सब लगानबन्दी का कदम उठायेंगे तो समझ-बूझ कर ही। इतने अनबूझे अब नहीं है कि लगानबन्दी के सिलसिले में अपनी बाकी कठिनाइयों से नावाकिफ हों।" मैंने कहा।

निसन्देह हम लोगों की आशंका गलत नहीं निकली। सारे इलाके के किसान-काश्तकार उसके बहकावे में आ गये थे। उस समय का कश-मकश और परेशानी जन्म भर नहीं भूलेगी।

सारे इलाके के काश्तकारों ने लगान देना एक साथ बन्द कर दिया।

हम लोगों ने पहले समझा-बुझाकर काम निकालना चाहा। फिर भय-धमकी दी। तहसीलदार डिप्टी साहब ने उन्हें ऊँच-नीच दिखाया। खुद जिले के कलक्टर साहब हमारे कहने पर तशरीफ लाये। उन्होंने पहले समझाया। फिर भय दिखाया कि हर एक को नस्तवाबूद कर दूँगा। अंग्रेजी राज है, कोई खाला का घर नहीं है कि जिसके जी में जो आये वह मनमानी करे।

पर किसी बात का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। रोपन का स्वर ही जैसे उनका स्वर हो, जैसे सारे इलाके की साँस रोपन की साँस के साथ साथ सम्बद्ध हो। रोपन ने कलक्टर के सामने ही कह दिया—"आप देख लीजिये, खेती से उत्पन्न जिन्सों का भाव एकदम गिर गया है और लगान अभी पहले जैसी ही है। दाना-दाना अनाज बेच दें तो भी लगान पूरी नहीं पड़ती। इसके अलावा घर-गृहस्थी का साल भर का खर्च अलग है। हम लोग लगान कहाँ से देंगे?"

कलक्टर की सलाह से ही मैंने हर एक के ऊपर बकाया लगान की नालिश की थी। डिग्री अपने पक्ष में होते कितनी देर लगती। लगान के ऊपर मुकदमें का खर्च और बैठा दिया, पर डिग्री हो जाने से ही तो रकम वसूल नहीं हो जाती।

डिग्री इजराय करा कर मैंने उनका खेत घर और अन्य सामान नीलाम पर चढ़वाया। पर नीलाम की बोली बोलने के लिए एक भी आदमी नहीं आया। दूसरे इलाके के, आस पास के किसानों-काश्तकारों ने भी उस जमीन-जायदाद और सामान को लेने की हिम्मत नहीं की। वे डरते थे कि बोली बोल कर जगह जमीन ले ली फिर उस पर कब्जा करने में लाशों के ढेर लग जायेंगे। धरती खून से सिंच जायेगी। किसानों में कहावत है—जीविका जी के पीछे—सो शरीर में जान रहते किसान अपनी जगह-जमीन नहीं जाने देते। शहर के दो एक व्यापारियों

को चढ़ाकर लाया गया, पर जब उन्हें सब स्थिति मालूम हुई तो उनके कदम भी डगमगा गये। वे भी सामने से हट गये।

आखिर हम लोग हैरान-परेशान हो गये। अफसरों-अधिकारियों और हम लोगों ने स्थिति को समझा। हम लोगों ने यही बुद्धिमानी समझी कि उन्हें कुछ सहूलियत दी जाय, नहीं तो अगर इसी तरह अड़े रहे तो कुछ भी वसूल नहीं हो पायेगा। बुद्धिमानी इसी में है कि जहाँ सर्वस्व डूब रहा हो, वहाँ आधा तो बचा लिया जाय!

अन्त में हम लोगो ने सुलह कर ली। लगान में रुपये पीछे चार आने छूट देनी पड़ी। सभी मुकदमे उठा लिये गये और मुकदमों का जो खर्च था वह हमारे ही मत्थे रह गया। इस तरह इस मामले में मुझे काफी नुकसानी और बेइज्ज़ती उठानी पड़ी!

असहयोग आन्दोलन

इधर आठ दस वर्षों के बीच मेरे जीवन में जो उल्लेखनीय घटना घटी थी वह थी इलाके के किसानों-काश्तकारों का रोपन के नेतृत्व में लगानबन्दी का आन्दोलन और जिसमें एक हद तक उन्हें सफलता मिल चुकी थी इसका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ। तमाम सरकारी मदद के बावजूद मुझे लगान में छूट देने के लिए बाध्य होना पड़ा था। वह सामूहिक संगठन की शक्ति ऐसी थी कि उसका धक्का झेल ले जाना किसी के बूते की बात नहीं थी। बूँद-बूँद पानी एकत्र हो कर जब प्रबल धारा का रूप ग्रहण कर लेता है तब उसके सम्मुख अचल पर्वतों का आसन भी डोल जाता है। जिस प्रकार वह प्रबल धारा अपने वेग और तीव्रता के प्रहार से पर्वत को चूर-चूर कर के नन्हीं बालुका कण के रूप में परिवर्तित कर देती है, उसी तरह मैंने किसानों-मजदूरों की संगठित शक्ति के बल को महसूस किया है कि जब तक वे अकेले हैं,

अलग-अलग, छिन्न-भिन्न हैं, तब तक एक अदना भी उन्हें कुचल सकता है, उनका अपमान कर सकता है, उनकी उपेक्षा और अवहेलना कर सकता है, किन्तु जिस क्षण वे संघ-बद्ध हो उठते हैं, उस क्षण उनकी शक्ति दुर्दमनीय हो जाती है, उस संघ-शक्ति के सम्मुख दुनिया की बड़ी-बड़ी ताकतों की भी आत्मसमर्पण करने सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता !

लगानबन्दी के इस आन्दोलन के सिवा और मामलों में मेरा आठ-दस वर्षों का जीवन साधारण तौर पर आनन्द के साथ ही कटा और कोई खास बाधा-विघ्न नहीं पड़ा। वही दावत, पार्टी, सैर-शिकार, ऐश मौज, अफसरों और अधिकारियों के साथ हा-हा ही-ही, शराब-कबाब, नाच मुजरा, रंडी-पतुरिया, कुल ले कर वह भी एक स्वर्ण युग ही था। पहली लड़ाई और सन् १६२१ के कांग्रेस आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार को जो धक्का लगा था, उससे वह अब एक हद तक सम्हल चुकी थी और उसी के अनुपात में हम जमींदारों-ताल्लुकेदारों की स्थिति भी सुधर गयी थी।

परन्तु इसी समय फिर काँग्रेस का आन्दोलन छिड़ा। ऊपर से सभी कुछ शान्त जरूर दीख रहा था, किन्तु वह शान्ति भूचाल आने के पहले की शान्ति-सी थी। ऊपर तो सभी कार्यक्रम नियमानुकूल चलता रहता है, कहीं कोई व्यवधान नहीं मालूम पड़ता, किन्तु भीतर ही भीतर प्रबल विस्फोट का कारण तैयार होता रहता है। उसी तरह ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता था कि देश के किसान-मजदूर शान्त हो चुके हैं और चुपचाप अँग्रेजी राज का जूआ कंधे पर डाले ढोये जा रहे हैं, किन्तु भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी। काँग्रेस के नेतृ-वर्ग के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि जनता की प्रगति के साथ उठाये अथवा नेतृत्व छोड़ कर अलग हो जाय। ऐसी स्थिति में उनके लिए यह लाजिम भी

हो गया कि ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ाई का एलान करें जिसमें जनता के बढ़ते हुए असन्तोष की आग से अपनी रक्षा कर सकें।

इस आन्दोलन का भी कार्यक्रम कम-वेश सम्पूर्णतया गान्धीजी के हाथों में आया। उनकी इच्छा ही सर्वोपरि थी। गान्धीजी के रहते नेतृत्व किसीके हाथ में जा भी नही सकता था। गान्धीजी ने अपनी चतुराई से ऐसा वातावरण तैयार कर लिया था कि कोई चाहे अथवा न चाहे, उन्हें मानने के सिवा और कोई रास्ता ही उन्होंने नहीं छोड़ा था।

अवश्य, एक और बात उल्लेखनीय है। देश के कुछ नौजवानों ने गान्धीजी की नीति से ऊब कर अँग्रेजों को इस देश से हटाने के लिए सशस्त्र क्रान्ति का मार्ग अपनाया था। देश के नवजवानों में इन क्रान्तिकारियों का वहुत ज्यादा प्रभाव था। पर जहाँ तक हमलोगों का सवाल है, हमें इनसे काफी भय था। सरकारी अधिकारी तो इनके भय से थर-थर काँपते रहते थे। हमारे वर्ग के लोग भी कम आशंकित नहीं थे। यद्यपि हम लोगों पर कॉंग्रेस की छत्र-छाया थी, परन्तु उन क्रान्तिकारियों की निगाह में हम लोग देशद्रोहीहियों की कोटि में थे और किसी भी क्षण हम लोगों के खिलाफ वे युद्ध का एलान कर सकते थे। इससे हम लोग उस तरफ से काफी चिन्तित और परेशान थे।

कॉंग्रेस का जो आन्दोलन छिड़ा था उसके पीछे जनता का पूरा-पूरा बल था। पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति की घोषणा, जो कॉंग्रेस की ओर से हुई थी, जनता के मन की बात थी। किन्तु इस आन्दोलन का जो रूप कॉंग्रेस ने प्रस्तुत किया था उससे जनता में काफी असन्तोष था। कॉंग्रेस के इस प्रोग्राम और कार्यक्रम को वह शक्ति-क्षय का रास्ता मानती थी जिसमें शक्ति तो बहुत ज्यादा लगे किन्तु कुछ तत्व हासिल न हो। किन्तु भी जनता के सामने और रास्ता और कार्यक्रम नहीं था, इसलिए अपनी सारी शक्ति उधर ही लगाये हुए थी।

इस आन्दोलन का मुख कार्यक्रम जो काँग्रेस की ओर से आया था वह था विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार, सरकार के कार्य से असहयोग, और ग्राम-उद्योग। किन्तु सबसे बड़ा बम-गोला जो काँग्रेस और गान्धीजी ने अपनी तरफ से जनता के सामने पेश किया वह था नमक-कानून भंग।

इस नमक-कानून भंग की सार्थकता न तो मैं तब समझ पाया था और न उसकी महत्ता आज तक मेरी समझ में आयी है। यह मैं काँग्रेस की आलोचना नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि काँग्रेस की आलोचना करना मेरा कभी भी ध्येय नहीं रहा है। इसका कारण यह रहा है कि काँग्रेस हम जमींदारों तालुकेदारों, सेठ-महाजनों के खिलाफ कभी नहीं गयी है। हमारी जो तरक्की हो रही है, हम जो जान-माल से सुरक्षित हैं, वह काँग्रेस की वजह से ही, नहीं तो आज की यह दुर्दमनीय जनता कभी की हमें उदरस्थ कर गयी होती। पर हमारा अस्तित्व इसी काँग्रेस की वजह से शेष है, इसलिए मैं ऐसा अकृतज्ञ नहीं हूँ कि काँग्रेस को कोसूँ। मैं तो ये बातें इसलिए लिख रहा हूँ कि असलियत जो है उसे तो हम स्वीकार करें।

उस समय की जनता के जागरण की मिसाल संसार के इतिहास में कम ही देखी जाती है। विदेशी शासन और शासकों के प्रति जनता के हृदय में घोर घृणा निहित थी, एक क्षण के लिए भी विदेशी शासन का आस्तित्व बर्दाश्त करना उसके लिए अखर रहा था। क्या बच्चे, क्या बूढ़े और क्या जवान! पुरुषों तक ही वह जागरण और विदेशी शासन का जूआ अपने कंधे से उतार फेंकने की तमन्ना और तद्‌जन्य आप्राण समस्त विघ्न बाधाएँ झेलने का दृढ़ संकल्प रहा हो सो नहीं, नारियों में जो जागरण था वह भी किसी से कम नहीं था। सदियों के बन्धन को तोड़ कर वह मुक्त हो गयी थीं और पुरुषों के कन्धों से कन्धा मिला कर

उस संग्राम में अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा करने के लिए उठ खड़ी हुई थीं। अभी तक असूर्यास्पर्शी कोमलांगियाँ पुरूष-कठोर होकर मैदान में उतर आयीं, जैसे क्रुद्ध सिंहनी पुरुष-सिंह के साथ दहाड़ मार कर शिकार पर टूट पड़ती है। कौन है जो उस सिंहनी का मार्ग अव-रोध करे ?

किन्तु कांग्रेस की ओर से जो प्रोग्राम रखा गया था उसमें कुछ दम नहीं था जिसके आधार पर ब्रिटिश सरकार की सत्ता छिन्न-भिन्न की जा सके।

नमक-कानून-भंग की योजना कांग्रेस की ओर से गान्धीजी ने सामने रखी थी। वह मुझे तो महज़ एक मजाक-सा लगता था। मेले-तमाशों में जैसे लोगों का मनोरंजन होता है उसी तरह का मनोरंजन उसमें था। यद्यपि साधारण जनता उसे गम्भीरता के रूप में ग्रहण कर रही थी पर मुझे तो ऐसा विश्वास नहीं होता था कि कांग्रेस में बुद्धिमान लोग उसकी महत्ता को स्वीकार करते रहे हों।

उसका दृश्य कुछ ऐसा रहता था कि गाँव-देहातों की जनता हजारों की तायदाद में एकत्र होती थी। उनकी दृष्टि में उस नमक-कानून-भंग की महत्ता ऐसी रहती थी कि वे अपना सारा काम-धाम छोड़ कर खेती-बारी और जीविका का नुकसान बर्दाश्त कर उसमें शामिल होते थे कि इस नमक कानून भंग से ब्रिटिश सल्तनत की जड़ खुद जायगी। काँग्रेस के नेताओं ने उन्हें ऐसा ही सुझा रखा था। दिन-रात वे नमक कानून की महत्ता गा रहे थे। जब जनता नियत स्थान पर हजारों की संख्या में एकत्र हो जाती, तब काँग्रेस के दो-चार बड़े नेता पधारते थे। उस समय उनका ठाट सबसे निराला ही रहता था। उस समय भी, अब की तरह, वे अपने को साधारण जनता से दूर ही रहते थे क्योंकि वे जानते थे कि इन लोगों में मिल कर अपने अस्तित्व को गँवाना ठीक नहीं और सही बात है, कोई शरीफ आदमी, जो आराम से खा-पी आया हो,

वह कैसे निहंगोंके साथ पंक्ति-बद्ध खड़ा हो सकेगा। अब आज ही की बातें लें। दूसरा कौन, हमारा लड़का बीरू भी तो आज मन्त्री है। अब उससे कैसे इस बात की आशा की जाय कि अपनी पद-मर्यादा, अपने खानदान की इज्जत, अपनी शालीनता और अपनी पुश्त-दर-पुश्त की चली आती सभ्यता और संस्कृति को तिलांजलि देकर, अदना आदमियों से मेल-जोल बढ़ाये, उनके साथ उठे-बैठे, उनके साथ भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित करे। ऐसा करने से तो उसका अस्तित्व ही खत्म हो जायगा। इसी तरह उस समय भी काँग्रेस के नेता अपना अस्तित्व अलग ही बनाये हुए थे। उस भीड़ में वे आसानीसे पहचाने जा सकते थे। कोई सेठ साहूकार था, कोई जमींदार-तालुकेदार था, कोई वकालत और डाक्टरी से लाखों-लाख कमाकर अपना घर भरने के पश्चात् नाम-धाम के लिए काँग्रेस में शामिल हुआ था। कोई बड़े बाप का बड़ा बेटा था। मेरा बीरू भी तो ऐसा ही था। तो भला उन लोगों से कैसे यह आशा की जा सकती थी कि अपनी आबरू गँवा दें।

यद्यपि उन नेताओं के कपड़े थे तो खद्दर के ही, पर खद्दर खद्दर में फर्क होता है। एक खद्दर तो वह भी है जो मोटिया लोग पहनते हैं। दिन भर काम करते हैं। पूरे परिवार की रोटी-दाल उसे जुटानी पड़ती है। कपड़ा-लत्ता, तीज, त्यौहार, हिताई-नताई, लेन-देन, शादी-गमी सभी कुछ उसे सँभालना पड़ता है और इस दिक्कत के बावजूद समय निकाल कर चर्खा कातता है और उसके सूत का बना खद्दर पहनता है, मोटे टाट की तरह का कपड़ा, पर उसमें इस बात की लगन है। यद्यपि मेरी नजरों में उसकी यह लगन मूर्खता का ही प्रतीक है, पर वह समझता है कि देश का उद्धार इसी खद्दर से होगा और उसे पहनता है। और एक खद्दर वह भी है जिसे बीरू पहनता है। आठ-दस रुपया गज से नीचेका खद्दर वह छूता तक नहीं। एक-एक जोड़े धोती का अस्सी-रुपये तक देता है और ऐसे ही मुलायम कपड़े उसकी देह पर शोभा पाते

हैं। राज-सुख, जन्म लेते ही से भोगता चला आ रहा है तो उसके शरीर पर भला मोटिया-मारकीन शोभा देगा? इसी तरह उस आन्दोलन के जो नेता आते थे वे कपड़े-लत्ते, वेश-भूषा, रहन-सहन, स्वभाव, व्यवहार, सबमें किसान-मजदूरों से अलग थे। जब पूरा आयोजन ठीक हो जाता तो ये आते। पहले के तैयार किये चूल्हे पर कड़ाही में थोड़ा-बहुत नमक बनाते। वह नमक क्या नमक होता? लोना को पानी में मिलाकर आग पर चढ़ाते और इस तरह गलत-सही नमक तैयार करते। इस समय जनता का जोश उमड़ पड़ता—भारत माता की जय-जयकार से आकाश फटता, गान्धीजी और अन्य नेताओं की जय-जयकार से आकाश गूँजता रहता। नमक बनानेवाले नेता उस समय अपने को दूल्हे सा अनुभव करते। सभी लोग उनकी खातिरदारी में लगे रहते। और जब इस तरह नाटकीय वातावरण में वह नमक तैयार होता तो उसकी नीलामी होती। साधारण किसान मजदूर भला क्या खाकर उस नमक को ले पाते। हाँ, हमीं लोगों की स्थिति के ही लोग, उँची बोली बोल कर उस नमक को ले लेते और फिर उस नमक को खरीद लेने वालों की जय-जयकार से आकाश गूँजने लगता। वह नमक का खरीदार अपने को ऐसा महत्त्वपूर्ण महसूस करता, उसकी मुखाकृति पर गर्व की कुछ ऐसी भावना आ जाती जैसे वह दिक्विजयी सम्राट हो जिसके एक इशारे पर धरती का तख्त पलट जाता हो। इस समय तक पुलिस वाले तमाशा देखते रहते। कभी नमक तैयार होने पर और कभी बोली बोले जाते समय नमक को छीनने की कोशिश करते और दो-एक नेताओं की गिरफ्तारी और उन नेताओं की देश-भक्ति की जय-जयकार की ध्वनि के साथ इस नाटक का अन्त हो जाता था।

इसी तरह पिकेटिंग भी होती थी। कभी शराब की दूकान पर, कभी विदेशी कपड़े की दूकान पर और कभी और कहीं। यह नज़ारा भी कुछ कम-बेश नमक-कानून-भंग की तरह का ही होता। इसमें वही जोश

खरोश, वही उल्लास रहता। जनता यहाँ भी अपना पूरा बल लगा देती, पर सब मिलकर नेताओं की ओर से ऐसा कार्य-क्रम रहता कि खोदा पहाड़ और निकली चुहिया वाली कहावत ही चरितार्थ होती थी।

इसी तरह के तमाशों में मुझे काफी आनन्द आता। यद्यपि मैं स्वयं कभी भी इसमें शामिल नहीं हुआ था, पर इस तरह के जितने समाचार आते उनमें मुझे काफी दिलचस्पी मालूम होती, काफी मनोरंजन होता था। मन ही मन उन काँग्रेसी नेताओं को धन्यवाद देता जो किसान-मजदूरों के उस दुर्दमनीय जोश और शक्ति को इस तरह अप-व्यय में नष्ट कर रहे थे।

इस आन्दोलन के सिलसिले में एक बात और हुई है जिसने मेरे परिवार की भविष्य की गति-विधि में बहुत प्रभाव डाला है और वह है बीरू का उस समय के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना। छुट्टियों में वह घर आया हुआ था। दिन भर वह घर से गायब रहता था। अब वह बालिग हो चुका था। मुझे उसके बारे में विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। दूसरे, जब भी वह छुट्टियों में आता था नजरों से दूर ही रहता था। घर से वह अक्सर बाहर ही बाहर रहता जिससे उसकी गतिविधि पर मेरी नजर न पड़ सके। इसका कारण मैं मन ही मन समझता था। उस उम्र में मैं भी पिताजी की नजरों से दूर रहता था। कारण कि मैं नहीं चाहता था कि पिताजी के सम्मुख रहकर मैं अपने आनन्द में खलल डालूँ। कुछ नहीं होता तो भी पिताजी का तो लिहाज करना पड़ता था। उनके सामने खुलकर खेलने में बाधा पड़ती थी। दोस्तों-मित्रों के साथ योजनाएँ बनाकर कार्यान्वित करने में पिताजी को नजरों की पकड़ में आ जाने की सम्भावना थी।

मेरी तरह बीरू भी मुझसे बच कर रहता। और इसलिए जब इस अवसर पर भी छुट्टियों में वह मेरे सम्पर्क में ज्यादा नहीं आया तो मैंने समझा कि पहली वाली ही गतिविधि है। दोस्तों मित्रों के साथ घूम-

फिर कर शैर-शिकार में, आनन्द-मौज में मशगूल होगा, पर उसका झुकाव कुछ दूसरी ही तरफ़ हो रहा था।

धीरे-धीरे मेरे कान में भनक पड़ी कि बीरू काँग्रेस के आन्दोलन में भाग ले रहा है। अभी तक मैंने लक्ष्य नहीं किया था। उसके शरीर पर खद्दर के वस्त्र आ चुके थे। खद्दर का झोला और एक चप्पल। यद्यपि वह इन चीजों का उपभोग मेरे सामने नहीं करता था। मेरे सामने तो वह अपनी पुरानी ही वेश भूषा में आता था। इसका भेद तो मुझे पर बाद में खुला। जब मुझे शुबह हुआ मैंने उसे बुलवा भेजा।

आकर वह चुपचाप मेरे सामने सर झुकाकर खड़ा हो गया। उसकी उस समय की मुख-मुद्रा एक अपराधी जैसी थी। उसका वह रूप देखकर मेरे मन का क्रोध ठंढा पड़ गया। मैंने कुछ नर्मी से पूछा—"बीरू, कहाँ रहते हो आजकल तुम दिन भर? पता ही नहीं चलता तुम्हारा।"

बीरू ने कोई भी जवाब नहीं दिया। केवल अपने हाथ की अँगुलियोंसे अपने कुर्ते की छोर खींचता रहा।

"मैंने सुना है कि तुम काँग्रेसवालों का साथ पकड़ रहे हो।" मैंने कहा।

अब भी उसने कोई उत्तर नहीं दिया। उसी तरह मौन-मूक अपराधी की मुद्रा में खड़ा कुर्ते का दामन खींचता रहा।

उसकी इस चुप्पी पर मुझे कुछ झल्लाहट महसूस हुई। कुछ कठोर स्वर में मैंने कहा—

"आखिर कुछ तो बोलो। मैंने सुना है कि कल तुम महीपतपुर गये थे और नमक बनाने की तैयारी में हो!"

अबकी बार उसने धीरे से कहा :—"जी, गया था।"

"तो तुम यह किधर कदम उठा रहे हो?" मैंने कहा—"आखिर तुम कुछ समझते-बूझते हो कि क्या कर रहे हो? यह राजद्रोह है। चाहे तुम भले ही इसे खिलवाड़ में कर रहे हो। तुम्हें यह नहीं भूलना

चाहिये कि तुम किस खानदान के हो। परम प्रतापी राजा अरिमर्दन का रक्त तुम्हारी नसों में प्रवाहित हो रहा है। तुम्हारा यह कदम इस खानदान को किधर ले जायगा?"

कुछ देर तक बीरू चुपचाप खड़ा रहा, जैसे किसी हैस-बैस में हो। फिर बोला—

"पिताजी, मैं अपने खानदान की हँसाई नहीं कराऊँगा। इस काँग्रेस में हमारे ऐसे लोग बहुत हैं। बड़े-बड़े जमींदार, ताल्लुकेदार और सेठ-महाजन ही तो नेता हैं। काम करने के लिए किसान-मजदूर हैं। मैं किसान मजदूरों में तो शामिल होऊँगा नहीं, मैं तो अपने ही ऐसे लोगों के साथ रहूँगा।"

मैं चुप लगा गया। उस समय मेरे मन में एक बात उठ रही थी कि यह बीरू शायद सही रास्ता पकड़ रहा है। काँग्रेस का पल्ला पकड़ कर यह शायद गलत न कर रहा हो, क्योंकि अगर काँग्रेस के हाथ में ताकत आयी तो फिर बीरू का ओहदा ऊँचा उठेगा। दूसरे, यह नेताओं की कोटि में रहेगा। आम किसानों-मजदूरों से इससे फर्क रहेगा।

अँग्रेजी सरकार की नाराजगी की बात मन में आयी। पर उसका समाधान मैंने कर लिया था। जरूरत पड़ेगी तो मैं साफ कह दूँगा, यह लड़का मेरे कहे में नहीं है। इसके किसी भी कामकी जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं। पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर निकम्मे आदमियों का साथ इसने पकड़ लिया है।

बीरू ने नमक बनाया। उस नमक बनाने की कहानी भी पहले जैसी ही है। हजारों आदमियों के बीच में हमारा बीरू दूल्हा-सा बना रहा। काम-धाम, दौड़-धूप तो दूसरे लोग करते रहे, केवल नाम बीरू भर का था। बल्कि अन्य नेताओंसे भी ज्यादा उसका प्रभाव था। सब लोग जानते थे कि बड़े बाप का बड़ा बेटा है। राज-सुख पर लात मार

कर फकीरी बाना अख्तियार किये हुए हुए हैं, नहीं तो इसे किस चीज की कमी है ।

किन्तु इस बीच जरूर उसके कार्यों से सरकार के मन में मेरे प्रति मैल आया । जब मैं किसी काम से बनारस गया तो कलक्टर साहब ने खुद मुझसे शिकायत की :—

"राजा साहब, आपका खानदान तो सदा से ही राजभक्त चला आ रहा है, हमें आपसे ऐसी आशा नहीं थी ।"

मैंने अनजान बन कर पूछा—"तो कहिये, अब क्या फर्क पड़ गया । अब भी इस शरीर में जान रहते राजा रिपुमर्दन पर कोई यह इल-जाम नहीं लगा सकता कि उसने राजद्रोह किया । मेरी तो नस-नस में राजभक्ति का लहू प्रवाहित हो रहा है और दम रहने तक यही बात रहेगी ।

मेरी इस बात से कलक्टर साहब सहमें, पर उन्होंने कहा—"कुँवर साहब तो इसमें भाग ले रहे हैं । आपके इलाकों में जितनी घटनाएँ घटी हैं, उनमें कुँवर साहब का भी हाथ रहा है ।"

मैं तो इसके लिए तैयार ही था । जवाब भी मेरे पास मौजूद । मैंने बिना किसी झिझक के उत्तर दिया—"वह तो नादान लड़का है । आपको इस बात का इतमीनान दिलाऊँ कि वह तो महज खिलवाड़ के रूप में ही इस खेल-तमाशे में भाग ले रहा है । राजनीति समझने-बूझने की अभी उसकी उम्र ही कहाँ है ?"

कलक्टर—"यह तो ठीक है, पर यह खेल कितना खतरनाक है, इसकी असलियत से आप इनकार नहीं कर सकते !"

मैंने कहा—"आपका कहना दुरुस्त है । मैंने इसके लिए उसकी काफी लानत-मलामत की और उसने मुझसे माफी माँगते हुए कहा कि पिताजी, अब ऐसी गलती नहीं होगी । सही बात यह है कि वह रोपन ही इलाके में सारी खुराफातों की जड़ है । बीरू तो महज एक खिलवाड़ कर रहा था । और अब वह बात भी नहीं रही ।"

मैंने लक्ष्य किया कि कलक्टर साहब मेरी बातों के प्रभाव में आ गये हैं और उन्होंने मेरी बातों का विश्वास कर लिया है। अगर वे मेरी बातों पर विश्वास नहीं करते और बीरू के कार्यों को गम्भीरता के रूप में ग्रहण करते तो उसके लिए मैंने उपाय पहले से ही सोच रखा था। उनसे साफ कह देता—"साहब हमारा यह लड़का कपूत निकल गया। हमारे प्रतापी वंश में कायर निकाला। मैं खुद ऐसी सन्तान का मुँह नहीं देखना चाहता और अगर अपनी हरकतों को वह बन्द नहीं करेगा तो मैं खुद अपने हाथ से इसे एक दिन गोली मार दूँगा। मैं तो आपसे तज-बीज करूँगा इसे सख्त से सख्त सजा दें। ऐसे नालायक लड़के के होने से न होना ही अच्छा। हमारे खानदान में यह दाग़ लगा रहा हैं। सिंहोंके वंशमें यह स्यार पैदा हुआ है।"

जब मैंने इस बात का लक्ष्य कर लिया कि कलक्टर मेरी बातों में आ गये हैं, बीरू की कार्यवाहियों को महज लड़कपन की सनक समझ रहे हैं, तब मैंने उन पर लादने की गरज से कहा—"किन्तु कलक्टर साहब, मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

यह कह कर मैंने अपना चेहरा गम्भीर बना लिया।

कलक्टर मेरी ओर गौर से देखकर बोले—"कहिये।"

"वह यह कि" और भी गंभीर होकर मैंने कहा—"आपने हमारे ऊपर शुबहा कैसे किया? हमारे पूर्वज राजा अरिमर्दन की परम्परा का आपने ध्यान नहीं रखा।"

यह कह कर मैं भी गम्भीर हो गया जैसे किसी ने मेरा अपमान कर दिया हो। कलक्टर साहब पर मेरे इस नाटकीय अभिनय का प्रभाव पड़ गया। कुछ सहम कर उन्होंने अपनी सफाई दी—"राजा साहब, आप भी खूब हैं! आप पर शुबहा करने का मतलब होता है अपने ऊपर ही शुबहा करना। आप भी क्या मतलब निकाल बैठे।" और यह कह कर

वे ठठाकर हँस पड़े। वातावरण की गम्भीरता को वह जैसे हलका करना चाहते हों।

इस आन्दोलन के सिलसिले में एक बात मुझे बेहतर अखरी, बल्कि उस बात से मैं तिलमिला उठा। बात रोपन से सम्बन्धित थी।

रोपन इस आन्दोलन में भी पहले की तरह ही आगे बढ़ा हुआ था। आसपास के इलाके की जनता उस पर अपना वही विश्वास कायम रखे थी। यद्यपि शहर के नेता और जमींदार-ताल्लुकेदार, सेठ-महाराज आदि तो काँग्रेस के लीडर बने थे, वे रोपन की उपेक्षा करते थे। वे सदा ही इस बात का प्रयत्न रखते थे कि काम करने के लिए तो वह करे, पर श्रेय उसके हाथ में न जाय। वह हम लोगों के ही हाथ में रहे।

इसी सिलसिले में रोपन ने एक बात कही थी जिसे सुनकर उन नेताओं ने काफी रंज प्रकट किया था और मैं तो सुनकर अपमान के क्रोध से तिलमिला उठा था। उसने कहा था—'यह आन्दोलन राजा-रईसों और पैसेवालों के लिए तो एक मन बहलाव की चीज है। वे इसे महज मौज में कर रहे हैं। साथ ही साथ वे इस बात के पीछे हैं कि उनके हाथ में लीडरी बनी रहे। जनता का हित इनसे नहीं होगा। ये राजा रईस, सेठ-साहूकार अपने ही लोगों का हित चाहेंगे। गरीब जनता का हित तो उन्हीं आदमियों से होगा जो उनके आदमी हों। भला ये पैसेवाले गरीबों का दुःख-दर्द कहाँ तक समझेंगे? मिसाल के लिए राजा साहब के लड़के वीरेश्वर बहादुर को ही ले लो। किसानों का रक्त इन्होंने चूसा। उन्हें पामाल कर दिया और अब चाहते हैं कि इधर भी अपनी टाँग अड़ाये रहें। जब ऐसे ही लोगों के हाथ में काँग्रेस का नेतृत्व रहेगा तब जनता का कल्याण उससे हो चुका।"

कुछ इसी तरह की बातें उसने प्रचार करनी शुरू कर दी थीं। आन्दोलन लम्बा खिंचता जा रहा था। उसकी ताकत तीस करोड़ जनता

की ताकत थी। पर उसका उपयोग नहीं हो पा रहा था और अन्त में इसका भी वही हाल हुआ जो सन् २१ के आन्दोलन का हुआ। गान्धी जी के सम्हाले यह आन्दोलन नहीं सम्हल रहा था। अँग्रेजी सरकार ने कई वार खेले। इस उलझन के जाल को काँग्रेसी नेता काट नहीं सके और मेरी समझ से वे ऐसा कोई कदम उठाना भी नहीं चाहते थे जिसमें जनता की शक्ति सर्वोपरि हो जाय। यह हम लोगों के लिए सौभाग्य की बात थी।

नेताओं की कई बार गिरफ्तारियाँ हुईं, कई बार छूटे। उससे कुछ की देश-भक्ति और त्याग के गाने बने, पर दरअसल उनकी देश-भक्ति और त्याग का मूल्य-महत्व कितना है, यह मैं जानता हूँ। पर एक बात मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि उन्हीं नेताओं का प्रताप है, उन्हीं की कमाई है जिससे आज हमलोग यह फल प्राप्त कर रहें हैं। कभी-कभी मेरे मन में यह बात आती है कि अगर हिंदुस्तान में ऐसे नेता न पैदा हुए होते और जनता के ही बीच से ही उनके नेता आगे बढ़े होते तो आज हम लोगों का कहीं ठिकाना न रहता। फिर जो मेरी पीढ़ी तक यह राजसुख हमारे भाग में लिखा था, उसका उपभोग निश्चित रूप से मैं नहीं कर पाया होता।

धीरे-धीरे मैं यह अनुभव करता जा रहा था कि बीरू ने सही रास्ते पर कदम उठाया है। काँग्रेस के नेताओं में उसकी शुमार होती जा रही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि हमारी वंश-परम्परा का बल उसके पीछे था। जितने भी काँग्रेस के बड़े-बड़े नेता थे, सभी उसकी कद्र करते थे। अधिकांश नेताओं को बीरू ने दावतें दीं। उन्हें घुमाया-फिराया। उनके ऊपर खर्च किया। लोग उससे सहमते थे। नहीं तो सेवा तो उसने क्या की, वह तो दूसरों से ही अपनी सेवा करवाने के लिए पैदा हुआ है। उसका नक्षत्र ही ऐसा है। हमारे वंश की परम्परा, धन सम्पत्ति, प्रभाव और रोब-दाब रखने की प्रवृत्ति ने बीरू को नेता बना दिया,

काँग्रेस के लिए वैसे नेता की जरूरत थी। नहीं तो काँग्रेस का काम करने के लिए बहुत थे। मैंने यह अच्छी तरह लक्ष्य किया है कि रात-दिन परिश्रम करने से, ईमानदारी से काम करने से, उच्च आदर्शों का पालन करने से, काँग्रेस में किसी की पूछ नहीं हुई, जिसकी पूछ हुई है उसकी उसके खानदान के बड़प्पन से, धन से, उसके सामाजिक जीवन के स्तर से। जिसके पास रूपया पैसा रहा है, दस लोगों को खिलाता-पिलाता रहा है, अपना प्रचार करवाता रहा है, अपने एजेन्ट नियुक्त करता रहा है उसे नाम और प्रभाव प्राप्त करने में कुछ भी विलम्ब नहीं लगा। नहीं तो तमाम जिन्दगी झख मारते फिरो, कोई पूछने वाला नहीं।

मैं तो ऐसे कितने ही को जानता हूँ जो इसी आन्दोलन के पीछे बर्बाद हो गये। उनके घर-द्वार सब नीलाम हो गये। जेलों में सड़े, मरे, धन सम्पत्ति सब गवाँ दिया। सन् ४२ के आन्दोलन में मारे-मारे फिरे, पर अन्त तक लावारिसों से भटकते ही रहे। कोई उनको पूछने वाला नहीं हुआ। इसका कारण स्पष्ट है। उनके पास न तो पैसा ही था और न खाने-पहनने का ठिकाना ही। फल यह हुआ कि तमाम जिन्दगी खपा दी पर सदा ही दो कौड़ी के बने रहे।

काँग्रेस के कुछ ऐसे लोगोंको मैं जानता हूँ। बीरू ने उनके बारे में विस्तारपूर्वक मुझे बताया था। एक आदमी के बारे में तो उसने यहाँ तक बताया कि कई लाख की रकम हड़प गये, उस रकम से उन्होंने एक दैनिक अखबार निकाला और फिर उस पत्र के जरिये अपनी और काँग्रेस के यशोगान की ऐसी समा बाँध दी कि फिर उनसे बढ़कर कोई त्यागी और दानशील रह ही नहीं गया।

मैं खुद इस बात को मानता हूँ कि यह त्याग और आदर्श केवल मूर्खों को बहकाने की चीजें हैं। इस दुनिया में ताकत ही प्रधान रही है। वह चाहे शरीर की ताकत रही हो, पैसे की ताकत रही हो अथवा दिमाग

की ताकत रही हो, उसी ने दुनिया को नचाया है। मैंने और मेरे पूर्वजों ने शरीर और धन की ताकत का उपयोग किया, इसलिए हम लोगों का प्रभाव एक सीमित क्षेत्र तक ही रह गया। बीरू ने दिमाग की ताकत का उपयोग किया और उसने हम लोगों से कई गुना ज्यादा प्रभाव हासिल कर लिया। हम लोग तो अपने जिले में ही जाने-माने जाते थे और आज बीरू सारे सूबे की जबान पर है। दर असल वह जनता है कि यह दुनिया पराजित करने वालों की है, जिसने उसे पराजित किया, उसके सामने घुटने टेक देगी। पर यह बात मैं उसी देश के बारे में कह रहा हूँ जहाँ जनता की ताकत को रोक रखा गया है, नहीं तो जिन देशों में जनता ने अपनी ताकत को पहचान लिया है वहाँ उनको भुलावे-बहकावे में नहीं लाया जा सकता है। वहाँ यह नीति पार नहीं पा रही है कि रोटी खाओ शक्कर से और दुनिया को ठगो मक्करसे। पर हिन्दूस्तान में तो अभी तक यही हालत रही है और यह हालत बनाने और उसे कायम रखने में, हम लोगोंने प्राणपण से बल लगा दिया है क्योंकि यह बात हम लोग अच्छा तरह जानते है कि जब तक ऐसी स्थिति है, तभी तक हम लोगों की पाँचों अँगुलियाँ घी में हैं।

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे मैंने महसूस किया कि हमारे परिवार का देश की दोनों शक्तियों—अँग्रेज सरकार और काँग्रेस से मेल होना कल्याणकर ही रहा है। मैं तो तब भी अँग्रेजी सरकार को चाहता था। उसका विश्वास-पात्र था और उधर बीरू काँग्रेस में नाम कमा रहा था। इससे उसी समय हम लोगों को गारन्टी हो गयी थी कि चाहे देश में अँग्रेज रहें, या काँग्रेस का राज हो, अपना तो कल्याण है।

हम लोग तो, खैर, दो ही तरफ हाथ पसार सके, नही तो सेठ रामदास ब्रदर्स को लीजिये। चार-पाँच भाई हैं। सारे देश में उनका कारबार फैला है। और आज काँग्रेस में इतना प्रभाव जमा रखा है कि जिसे चाहें मंत्री बनवायें, जिसे चाहें मंत्री के पद से हटवायें। उनके

रूपये की मार सब पर पड़ी है। और यह आज से ही नहीं है जब से अँग्रेजी राज था उस समय से ही उनका सितारा बुलन्द है। कारण यह रहा कि उनमें से एक भाई तो अँग्रेजी सरकार के परम भक्त थे। लाखों रूपयों उन्होंने 'वार फंड' में दिये। जहाँ कहीं गवर्नर वायसरायने चन्दे की अपील निकाली, सब से पहली और सब से ऊँची रकम उन्हीं की रही। वेश-भूषा, रहन सहन पहरावे-ओढ़ावे में सदा अँग्रेजों के साथ रहे। अँग्रेज अधिकारियों से उनका भाई-चारा रहा और इसलिए अँग्रेजी राज्य में उन्होंने अपना व्यापार इतना जमाया कि देश के दो-चार इने-गिने व्यापारियों और उद्योगपतियों में उनका स्थान हो गया।

उनके एक भाई उस जमाने में ही गान्धीजी के अनन्य भक्त बन गये थे। काँग्रेस में उन्होंने अपनी धाक जमा रखी थी। काँग्रेस के लिए उन्होंने खुल कर चन्दे दिये। वेश-भूषा काँग्रेसी। उनके तन पर हर वक्त खद्दर विराजता रहता। गान्धीजी के परम भक्त और परम स्नेह-भाजन बन कर रहे। उनको ही लक्ष्य करके गान्धीजी ने एक बार कहा था कि अगर सेठ रामदास की तरह सभी सेठ-महाराज और राजा-जमीदार हो जायँ तो फिर स्वराज्य की क्या आवश्यकता है। देश में अपने आप रामराज्य आया हुआ है। काँग्रेस के वे कई बार कोषाध्यक्ष रहे। बीरू ने मुझे बताया है कि इस तरह कोषाध्यक्ष रह कर भी उन्होंने अपना काफी काम बनाया है। उस रकम को वे अपने व्यापार में लगाते रहे। एक का दो करते रहे। साथ ही कुछ रकम गुप्त चन्दे की उनके पास आया करती थी, जिसे उनके और दो एक ऊँचे काँग्रेसी नेताओं के और कोई नहीं जानता था। उस रकम को भी वह अपनी ही समझते रहे और अपनी रकम-सा ही उसका उपयोग किया। उसका हिसाब देने की उन्होंने कोई जरूरत नहीं समझी। एक-आध बार अख-बारों में हो-हल्ला हुआ, पर उनके अखबारों ने ऐसा द्वन्द्व मचाया, ऐसी चीख-पुकार की, ऐसी दुहाई दी कि और सब आवाजें उसके नीचे दब

गयीं। काँग्रेस के नेताओं ने अपने प्रभाव का उपयोग किया और इस तरह उन्हें खरा सोना साबित कर दिया। इसमें भी उन लोगों की एक चाल थी। इस तरह आपस में मिल कर दोनों अपना काम साधते रहे। मैं तो यह निसंकोच कह सकता हूँ कि उसी सेवा के बल से आज उन्होंने करोड़ों कौन कहे, अरबों कमाया है। चुनाव के समय भी उन्होंने थैली का मुँह खोल दिया था और अपनी ओर से भी काँग्रेस के टिकट पर केन्द्र में लोगों को भेजा था। इस तरह उन्होंने हर तरफ से नाकेबन्दी कर ली। जब तक काँग्रेस सत्तारूढ़ है तब तक उनका भाग्य चमकता ही रहेगा। इसी तरह उनके और भाइयों में से किसी ने हिन्दू महासभा और जनसंघ का पल्ला पकड़ रखा है किसी ने और किसी संस्था का। इस तरह तो उनको देखते हुए हमारे परिवार ने बहुत कम हाथ-पैर फैलाया। सही बात यह है कि हमारे पास इतने साधन भी नहीं थे। वह तो कहो कि बीरू ने काफी दूर तक अपना हाथ मार लिया।

अँग्रेज-सरकार जनता की ताकत को महसूस करती जा रही थी, इसीलिए काँग्रेसी नेताओं की पीठ ठोंकना चाहती थी जिसमें अगर उनके हाथ से शक्ति खिसके तो काँग्रेस वालों के ही हाथों में जाय क्योंकि वे जानते थे कि काँग्रेस के हाथ में जब तक ताकत रहेगी तब तक अँग्रेज अधिकारियों का व्यापार उन्नति पर ही रहेगा।

अँग्रेज सरकार ने जिन सुधारों की घोषणा की थी उनके आधार पर असेम्बलियों में जाने के लिए देश में चुनाव हुआ। उस चुनाव में काँग्रेस की जीत हुई। बीरू भी काँग्रेस के टिकट पर असेम्बली का मेम्बर चुन लिया गया और चुनाव के बाद छः महीने तक इधर-उधर की कागजी कार्यवाही करने के बाद जब प्रान्त में काँग्रेस ने मन्त्रिमंडल बनाया तो बीरू को भी पार्लियामेन्टरी सेक्रेटरी बनाया गया। यद्यपि मैं इससे सन्तुष्ट नहीं था। मैंने मुख्य मंत्री पर जोर डाला कि हमारे वंश की परम्परा को ध्यान में रख कर बीरू को मन्त्रि-पद मिलना

चाहिये। मुख्य मन्त्री ने मुझे आश्वासन भी दिया था, पर उस समय यह आश्वासन पूरा नहीं कर पाये। कारण कि दो-ढाई साल का समय यों ही गुजर गया और दूसरी लड़ाई प्राम्भ होने पर काँग्रेस मन्त्रिमण्डल नहीं रह गया।

दो-ढाई साल काँग्रेस के शासन काल में काँग्रेसी मंत्रिमंडलों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। ब्रिटिश सरकार की ओर से नहीं, बल्कि कम्बख्त निम्न श्रेणी के लोगों की ओर से।

चुनाव के समय काँग्रेस ने विजय प्राप्त करने लिए जो वादे किये थे, उन्हें पूरा करने के लिए जनता जोर डालने लगी। पर जिन्हें अनुभव है, वह यह अच्छी तहर जानते हैं कि अगर ऐसे वादों को पूरा किया जाने लगे तो अपना कब्र खुदी ही है। चुनाव के समय अगर वायदे न किये जायँ तो वोट कैसे मिलेगा। मैं इसे राजनीतिक बुद्धिमानी ही समझता हूँ कि चुनाव में जीत पाने के लिए जो भी रास्ता अख्तियार करना पड़े, करना चाहिये। पर उन वादों पूरा करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। मैं अपना अनुभव कहता हूँ। लड़ाई के बाद जो काँग्रेस का चुनाव हुआ, उसमें हम लोगों को काफी रुपया खर्च करना पड़ा। बीरू के चुनाव के समय दोपहर के बाद जब मुझे ऐसा अन्दाज लगा कि जीत होने में शुबहा है तो मैंने यह घोषित कर दिया कि पाँच रुपये लो और वोट बीरू को दो। कुछ जगह तो मुझे दस-दस रुपये प्रति वोट खर्च करने पड़े। इस तरह जीत हासिल हुई थी और नहीं तो वैसे ही छोड़ दिया जाता तो जीत असम्भव थी।

हाँ, तो उस दो-ढाई साल के शासन-काल में काँग्रेसी मंत्रिमंडलों के खिलाफ़ किसानों ने सामूहिक रूप से सर उठाया था। उनकी वह सरकशी बगावत के रूप में थी। उनके बीच से ही कुछ ऐसे आदमी निकल आये थे जिन्होंने किसानों का संगठन किया और वे काँग्रेस-सत्ता को चुनौती देने लगे। उनकी शक्ति इतनी दृढ़ थी कि उन्हें दबाने

में काँग्रेस को अपनी पूरी ताकत लगा देनी पड़ी थी। लाठी चार्ज और गोलियों का सहारा लेना पड़ा था। उस समय काँग्रेस-शासन उन पर हावी तो जरूर होता जा रहा था, पर साथ ही एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि उसकी आन्तरिक शक्ति-क्षीण होती जा रही थी। मैं तो इसे गनीमत मानता हूँ कि दूसरी लड़ाई छिड़ गयी और काँग्रेसी मन्त्रि-मंडल खत्म हो गये नहीं तो उनकी पूरी फजीहत होती।

यूरोप में सन् १६३१ में युद्ध का ऐलान होते ही सारे संसार में तहलका मच गया। वास्तवमें यह आग तो वर्षों से ही भड़क रही थी। केवल एक चिनगारी की देर थी। सारा यूरोप बारूद का कारखाना बना हुआ था। उस चिनगारी के पड़ते ही जो विस्फोट हुआ उससे सारा ससार थर्रा उठा।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज-सरकार ने युद्ध के लिए अपनी पूरी ताकत संग्रहीत करनी प्रारम्भ कर दी। इंग्लैंड अपनी सारी शक्तियों की बाजी लगा रहा था। हिन्दुस्तान में व्यापक तौर पर युद्ध के लिए तैयारियाँ हो रही थीं। सारी शक्ति लड़ाई में विजय प्राप्त करने के लिए लग रही थी।

सिपाहियों की भरती, सामानों का मुहय्या करना प्रारम्भ हो गया। एक तरह से सारा देश उस फौजी हुकूमत के भीतर था।

किन्तु मैं इस बात को स्वीकार करूँगा कि पैसा कमानेवालों के लिए वह स्वर्ण युग था। उस लड़ाई के दौरान सारी चीजों का दाम चौगुना-अठगुना तक बढ़ गया। रुपये की कीमत दो आने तक आ गयी। सबसे ज्यादा लाभ इस समय व्यापारियों का था। एक का वे चार कर रहे थे। मिलिट्री के बड़े-बड़े ठेके प्राप्त कर रहे थे। दूसरी बात यह थी कि गल्ला और कपड़ा सरकार लड़ाई के लिए खरीद रही थी। इस तरह देश में खाद्यान्न और कपड़ों की नितान्त कमी होती जा रही थी। उस समय जिसने बुद्धिमानी से काम लिया, उसने करोड़ों

आसानी से कमा लिये । मैं ऐसे कितने ही सेठों को जानता हूँ जिन्होंने इस लड़ाई के जमाने में ब्लैक में दोनों हाथों से सोना बटोरा है और यह ब्लैक शब्द तो झूठे ही महाजनों को भी बदनाम करने के लिए है।

व्यापार भी तो बुद्धि का ही दाँवपेंच है। किसी की अंटी से पैसा निकलवाया जा सकता है। महाजनों ने यही व्यापारिक नीति बरती और करोड़ों रुपया कमा लिया।

मेरे सामने भी एक सेठ ने प्रस्ताव रखा था कि राजा साहब, हमारा आपके परिवार के साथ साथ घनिष्ट सम्बन्ध चला आ रहा है। इसलिए मैं आपको सलाह देता हूँ कि कुछ रकम गल्ले के रोजगारमें बराबर लगाइये। यह अनाज का दाना रुपये से तौल कर मिलेगा, ऐसा समय आने वाला है। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अन्न के दाने ढूँढ़ भी नहीं दिखायी देंगे—कारण कि जो अन्न-कपड़ा सरकार की खरीद से बचेगा, वह हम लोगों के गोदामों में पड़ेगा और फिर मनमाने ढंग से सोने के मोल उन्हें बेचो। इसलिए मैं आपसे जोर देकर कहता हूँ कि कुछ रकम इसमें आप फँसा दीजिये। देख-रेख मैं ही करता रहूँगा। उस समय मेरे मन में यह बात जँची तो जरूर, पर मैं हिचक गया। मैंने उत्तर दिया—भाई दूकानदारी का काम हमारे खानदान में कभी नहीं हुआ। यह बनिये का काम हम लोगों से नहीं होगा।"

सेठ—"यह कौन कहता है कि आप खुद सम्हालें। देख-रेख सब हमारी रहेगी। वह तो मैं आपसी भाई-चारेके नाते कह रहा हूँ।"

मैं—"पर भई, इससे मेरे खानदान की बदनामी होगी। नहीं, मैं यह काम नहीं कर सकता।"

अब मैं सोचता हूँ कि अगर मैंने उस सेठ के कथनानुसार कुछ रुपया उसमें लगा दिये होता तो आज रुपयों का ढेर लग गया होता।

पर इतना तो मैंने जरूर किया कि मिलिट्री के कई ठेके ले लिये। यह ठेके लेनेका विचार भी मुझे सेठ की ओर से ही मिला था। ठेके

लेने में एक शान थी। उस ठेके में मैंने लाखों रुपये कमाये। यह जरूर है कि अगर मेरी जगह पर कोई सेठ-महाजन रहा होता तो इस ठेके में और भी रकम बनाये होता।

लड़ाई के जमाने में अँग्रेज अधिकारियोंसे मेरी फिर घनिष्ठता बढ़ी। अपना विश्वास जमाने के लिए मैंने 'वारफंड' में कई-कई बार रुपये दिये।

उस लड़ाई के जमाने में मुझे एक बात से हार्दिक सन्तोष हो रहा था—वह यह था कि किसानों पर तबाही आयी हुई थी। इसका कारण यह था कि हर एक सामान मँहगा होता जा रहा था। जितनी कीमत में पहले एक बैल आ जाता था, उतनी में धोती का एक जोड़ा मिलने लगा। खेती के अन्य सामानों का दाम इतना बढ़ गया कि उन्हें खरीदना किसानों के बूते का नहीं रह गया। यह बात सही है कि अनाज का भाव भी बढ़ा था—पर तो भी अनाज, सरकार अपने निर्धारित किये हुए भाव पर खरीद लेती थी और दूसरे सामान किसानों को ब्लैक के दामों पर खरीदने पड़ते थे। एक बैल ही अगर खरीदना पड़ता तो साधारण से साधारण बैल के लिए दो-ढाई सौ निकालने पड़ते। यह किसानों के बूते के बाहर की बात होती जा रही थी।

दूसरे, खेती पर मुनहसर रहने वालों की जितनी संख्या थी, उनमें ज्यादातर ऐसे लोग थे जिनके पास खेत था ही नहीं। उस समय अक्सर ऐसे लोग दिखायी देते जिनके तन पर कपड़े नहीं थे। गाँव वालों को कपड़ा-लत्ता तो वैसे भी कभी काम भर खरीदने की बिसात नहीं रही। गंजी-धोती हो गयी तो बहुत बड़ी बात समझते हैं। पर उस समय ऐसे कितने आदमी हमारे इलाके में ही थे जो टाट लपेटे फिरते थे।

लड़ाई अपने पूरे जोर पर थी। काँग्रेस मन्त्रिमण्डल खतम हो चुके थे। अंग्रेजी सरकार अपनी पूरी ताकत से लड़ाई के लिए धन-जन मुहय्या कर रही थी।

इस बीच गान्धीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। इस व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रारम्भ उन्होंने विनोबाजी के द्वारा कराया। गान्धीजी का यह व्यक्तिगत सत्याग्रह एक अनोखी चीज थी। अनोखी चीज इसलिए नहीं कि इससे कुछ फायदा-नुकसान हो रहा था, बल्कि केवल इस रूपमें कि उसकी महत्ता कुछ नहीं थी। सरकार को इससे कुछ हैरानी भी नहीं थी। महज एक मजाक था। मेरी इसमें क्या दिलचस्पी होती, पर इस आन्दोलन के सिलसिले में बीरू का भी नाम प्रस्तावित किया गया था। मैंने उसे मना कर दिया—'यह मौका ऐसा नहीं है कि तुम सरकार के रास्ते में टाँग अड़ाओ। हाँ, काँग्रेस से अपना पल्ला मत खींचो। अभी पार्लमेंट्री सेक्रेटरी थे—कल भगवान की इच्छा हुई तो मन्त्रि-पद मिल सकता है। इसलिए भविष्य को ध्यान में रखकर काँग्रेस से भी किनारा मत अख्तियार करो। बीमारी का बहाना बना कर इस झंझट से अपनी जान छुड़ा लो।

इसका भी खास कारण था जो मैंने बीरू को यह सलाह दी। मैं इस वक्त भी पहले की तरह ही सरकार का खैरख्वाह था। पर दूसरी बड़ी बात यह थी कि मैंने मिलिट्री के कंट्रैक्ट लेने शुरू कर दिये थे और हालाँकि बीरू को दिखावे के तौर पर मैं अपने परिवार से अलग ही किये था, ताकि उसकी किसी भी कार्रवाई से हमारे ऊपर कोई जवाब-देही न आने पाये, फिर भी मैंने उसे इन झंझटों से तटस्थ रहने की सलाह दी।

उस समय विनोबाजी के बारे में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं हुई और न तो मुझे इसका जरा आभास ही मिल पाया कि आगे चल कर यह आदमी इतने काम का सिद्ध होगा। इधर भूदान का आन्दोलन चला कर विनोबाजी ने जो उपकार हम लोगों का किया उसे मैं क्या, कोई भी जमींदार-ताल्लुकेदार नहीं भुला सकता। उनकी इस विषय की जो सेवाएँ हैं, वे सदा स्मरणीय रहेंगी। प्रसंगानुसार इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

उस लड़ाई के सिलसिले में एक और बड़ी घटना घटी जिसने उस समय संकट में तो जरूर डाल दिया था परन्तु आज वही सबसे बड़ा आसरा हो गया है।

सन् १९४२ में एक बहुत बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। आन्दोलन क्या, उस शक्ति ने ब्रिटिश ताकत को झकझोर कर रख दिया था। सरकार की सारी मशीनरी ठप्प पड़ गयी थी—रेल, तार, डाक आदि सभी तोड़-फोड़ डाले गये। सरकारी कागज-पत्र भी फूँके गये। यह सब काँग्रेसी नेताओं के इशारे पर जनता ने किया, पर उसके बाद जनता किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गयी। उसे दिशा देने वाला कोई नहीं रहा और न तो उनके सामने नेताओं ने कोई योजना ही पहले रखी थी। इस तोड़-फोड़ ने सरकार को तो परेशान किया ही, साथ में जनता को बर्बाद और तबाह करके रख दिया। इसका कारण यह था कि जहाँ-जहाँ तोड़ फोड़ हुए थे, सरकारने जुर्माने के रूप में इतनी रकम लाद दी कि लोगों की वधिया ही बैठ गयी। दूसरे, फौजी-गोलियों से उन्हें भूनकर रख दिया। नेता तो सुरक्षित जैलों में बैठे राम-राम भज रहे थे और परेशान हो रहे थे गाँव के देहातवाले। हालाँकि मैं कभी उनका समर्थक नहीं रहा, पर उस समय उनकी दुर्दशा देखकर मुझे भी काँग्रेस वालों को कोसना पड़ा।

इस आन्दोलन के सिलसिले में एक घटना घटी जिसका सीधा सम्बन्ध हमारे परिवार से था।

हमारे थाने पर भी स्थानीय काँग्रेस नेताओं के बहकावे में जनता ने हमला किया था। बेचारे दस-पाँच सिपाही उस बाढ़ को कहाँ तक झेल पाते? मौत के घाट उतर गये और थाना-तहसील जल कर खाक! बीरू को इस झगड़े का अन्देशा था और इसलिए बीच-बचाव करने की गरज से वह भी गया था। दूसरे, वह पार्लमेंट्री सेक्रेटरी रह चुका था। उसका खयाल था कि स्थानीय अन्य नेता उसकी बात को मानेंगे। खास तौर

पर वह तहसीलदार की रक्षा करना चाहता था, कारण कि उस तहसीलदार ने हमारे साथ बहुत उपकार किये थे। उसकी मदद से हमने किसानों को साधा था। उनको नाकों चने चबवाये थे। उसके साथ भाई-चारे का सम्बन्ध था। इसलिए हम लोगों ने यह सलाह की कि उसे तो जरूर ही बचा लिया जाय। पर उसकी कजा आ गयी थी। तहसील की रक्षा करते-करते वह मर मिट गया।

वह जमाना दूसरा था। बीरू फरार था। फौजी शासन में जाने पर न जाने क्या दुर्गति हो; दिखावे के लिए मैंने उसे अलग कर दिया था। उसकी स्त्री अपने बच्चों के साथ मैके चली गयी। जमीन-जायदाद में बीरू के नाम कुछ था नहीं। जिले के सभी अधिकारियों से मैंने पहले ही कह दिया था कि बीरू के साथ हमारा कोई सम्पर्क नहीं है। उस समय दंगे में भाग लेनेवालों की सारी सम्पत्ति जब्त हो गयी थी। पर मेरी सतर्कता से मेरा कुछ भी नुकसान नहीं हुआ। हाँ, इससे लाभ भविष्य में हुआ। वह यह कि जब अँग्रेजों के जाने के बाद काँग्रेस शासन कायम हुआ तो हरजाने के रूप में सरकार से हम लोगों ने काफी लम्बी रकम प्राप्त की। नुकसान हुई चीजों की जो सूची हम लोगों ने तैयार की, वह काफी बड़ी थी। बल्कि मैं यह भी कह सकता हूँ कि अपने परिवार की सन् १९४१ की सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप ही बीरू को मंत्रि-पद दिलवाया।

उस समय बीरू के एक और साथी थे। उनकी तमाम खोपड़ी गंजी थी। बाद में उन्होंने यह कहना शुरू किया कि सन् ४२ के आन्दोलन में अँग्रेजी राज्य के जुल्म के शिकार हो गये हैं। सिर के सारे बाल फौजियों ने नोच कर सिर गंजा कर दिया है और इस तरह उन्होंने भी काफी रकम हाथ मारी।

सन् १९४२ का हंगामा समाप्त हो गया था। ब्रिटिश सरकार ने उसका दमन कर दिया था। उस आन्दोलन से सम्बन्धित व्यक्ति, बड़े-

बड़े नेता जेलों में आराम से बैठे थे। कोई अध्ययन कर रहा था। कोई किताबें लिख रहा था और कोई अहिंसा के नये-नये प्रयोग करने की धुन में था। उस सिलसिले में मुझे जो बातें मालूम हुई उनमें से कुछ तो काफी मजेदार और मनोरंजक थीं। सुना कि उनमें से एक नेता को यह धुन समायी है कि वह बिना नमक की पकौड़ी खायें। दरअसल उनका मन पकौड़ी खाने का हुआ। पर अगर इस प्रकरण को ऐसे ही उठाते तो लोगों की नज़रों में कुछ गिरने का भय था—'बूढ़े हुए, दूसरों को जीभ का स्वाद रोकने की सलाह देते हैं, पर आप खुद इतने मनचले हैं कि पकौड़ी खाने पर तुले हैं! इस अपवाद को बचाने के लिए उन्होंने यह ऐलान किया कि सेंधा नमक डाल कर पकौड़ी खाने की पद्धति चलायी जाय, जिसमें पकौड़ी का पूरा स्वाद न आ पाये। बाद में चाय में भी उन्होंने संशोधन किया। पहले नमक की चाय पीते थे, पर जब मीठी चाय के लिए मन ललचाने लगा तो गुड़ की चाय का चलन किया, इसे भी वे एक नया प्रयोग मानते थे। चीनी के बजाय गुड़ की चाय—और उनके भक्तों और समर्थकों ने इसे भी उनका एक बड़ा त्याग ही बता कर जनता में घोषित किया।

जेल में बन्द नेताओं को कोई तकलीफ नहीं थी। ब्रिटिश सरकार ने उनका सदा ही ख्याल रखा है। उन्हें इस बात का आभास था कि अगर भविष्य में शासन इन काँग्रसी नेताओं के हाथ में आया तो कम से कम इतना ख्याल तो वे रखेंगे ही कि उनके साथ हमने अच्छा सुलूक किया है और सच बात है कि आज उन नेताओं ने नमक हलाली की। आज अँग्रेज शासक के रूप में इस देश में नहीं रह गये, पर उनकी पद्धति अब भी कायम है। व्यापार-रोजगार की नकेल उन्हीं के हाथों में है। अब अमेरिका भी उनका साझीदार हुआ है। कभी-कभी ये कम्युनिस्ट भी बड़े पते की बात कह देते हैं। हैं तो ये साँप, पर उनकी समझदारी और सूझ-बूझ गज़ब की है। कम्बख्त सारे मुलम्मे को

भेदकर असलियत पर पहुँच जाते हैं। लाख पालिश करो, लाख छिपाओ, लाख घुमाकर बात सामने रखो-पर क्या मजाल कि उनकी पैनी निगाह से कोई बात हम लोग छिपा तो लें! सो इस बारे में सरकार की इज्जत दो टूक किये दे रहे हैं कि शासकों के रंग में परिवर्तन हुआ है पर नीति में नहीं। हैट की जगह गान्धी टोपी विराज गयी है, पर चेहरा वही है। लार्ड क्लाइव और डलहौजी की नीति को ही खद्दरधारी गान्धी भक्त चला रहे हैं।

ये बातें सुनकर मुझे तो ऐसा गुस्सा आता है कि अगर वश चले तो एक-एक को गोली से भून कर रख दूँ। किन्तु अब तो हमें आशंका दीख रही है कि जितने दिन तक हम लोग अपनी खैर मना लें, वही गनीमत है। उनकी ताकत ऐसी बढ़ रही है और इन कम्बख्त सारे किसानों-मजदूरों पर उनका जादू ऐसा चल गया है कि उसके साथ उठ खड़े हुए हैं और हम लोंगों को इस तरह देख रहे हैं जैसे फाड़ खायेंगे। आखिर बकरे की माँ कितने दिन तक खैर मनायेगी? लगता है कि एक न एक दिन इस दानवी शक्ति के सम्मुख हम लोगों का अस्तित्व बिखर ही जायेगा।

खैर, इस अप्रिय प्रसंग को बार-बार स्मरण करने से कोई लाभ नहीं। अभी तो अपनी चक है।

इसी बीच मुझे कलकत्ते से जगदेव का पत्र मिला—'महीना-पन्द्रह दिनों के लिए चले आओ। घूम फिर कर चले जाना। बड़ी रंगत है। तुम्हारे आने से और भी मजा आयेगा।'

जगदेव की ड्यूटी इस समय कलकत्ते में की गयी थी। सरकारी गल्ले की खरीद-फरोख्त के लिए फिलहाल उसका तबादला कलकत्ते हो गया था।

वैसे तो मैं कई बार कलकत्ता जा चुका था। वहाँ की रंगीनियों से मेरा मन मुग्ध हुआ रहता है। हिन्दुस्तान के प्रायः सारे शहर मेंरे घूमे

हुए हैं, पर जो आनन्दोपभोग के साधन कलकत्ते में प्राप्त हो जाते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वहाँ खुलकर खेलने का पूरा मौका है। अपने शहर बनारस की लूँ। गली-गली में पहचानने वाले लोग मिल जाते हैं। कोई ऊँचा नीचा कदम रखो, कोई शगल की नयी योजना बनाओ, तुरन्त दस आदमियों की नज़रों पर चढ़ जाना पड़ता है। हालाँ कि ऐसी चर्चाओं से मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं और न तो प्रोग्राम का पूरा लुत्फ़ उठाने में ही कोई खलल पड़ता है। पर कलकत्ते की बात दूसरी है। इतना बड़ा शहर है कि एक हिस्सा बम से उड़ जाय तो दूसरे कोने वालों को कानोकान खबर तक न हो—अखबारमें ही उसका समाचार पढ़ने को मिले। वहाँ कौन किसको जानता है—फिर उँगली उठाने की बात तो दूर रही।

बस जगदेव का निमन्त्रण पाते ही जाने के लिए मैं उतावला हो उठा। मन एक अपूर्व पुलक से पुलकित हो उठा। भविष्य की सुखद कल्पना से मन आप्लावित हो उठा।

पर हावड़ा उतरने पर कलकत्ते का जो दृश्य मैंने देखा—एक बार मेरी आत्मा काँप उठी। जगदेव मुझे लेने के लिए स्टेशन पर आया हुआ था। उसी के साथ में उसकी गाड़ी में बैठा हुआ था। पर स्टेशन पर उतर कर मुसाफिरखाने में आते ही और वहाँ से कदम बढ़ाते ही जैसे सारा दृश्य एक भयानक दृश्य में बदल गया हो। वह पहलेवाला चहकता, मौज में तरंगें मारता कलकत्ता कहाँ था!

अरों ओर मौत की छायाएँ जैसे डोल रही थीं। सड़क पर, फुटपाथ पर जहाँ कहीं भी नजर जाती थी, सब कहीं डगमगाती लाशें। लोग डगमगाते पाँव लड़खड़ाकर गिर पड़ते थे और सूनी और फटी-फटी आँखों से ताकते रह जाते थे। उठने की उनकी शक्ति हीं नहीं थी उनमें।

कलकत्ता आने के पहले ही बंगाल के अकाल के बारे में अखबारों में समाचार पढ़ चुका था। उन अकाल-ग्रस्त लोगों की कुछ तस्वीरें भी

अखबारों में मैंने देखी थीं, पर मन जमा नहीं था। सोचता था—शायद अखबारवालों की शरारत हो, शायद तिल का ताड़ बना रहे हैं। बहुत होगा—कुछ खाने-पीने की तकलीफ हो गयी होगी और उसी बात को लेकर ये अखबारवाले उड़ रहे हैं। पर ऐसा अनुमान नहीं था कि सारा कलकत्ता इनसे पट गया होगा। मेरा मन कुछ दुःखित हो उठा। यह मैं उल्लेख कर दूँ कि मेरी जिन्दगी में ऐसे क्षण बहुत कम आये हैं जब मैं दुःखित हो उठता हूँ या भावावेश में आकर दूसरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करूँ। भावावेश में आता हूँ जरूर और वह तभी जब कि मेरी और मेरे खानदान की शान का सवाल आ उठता है। उस समय मैं कुछ भी करने के लिए तैयार हो उठता हूँ। पर ऐसा कम ही होता है कि दूसरे की बात को ले कर मेरा मन इस तरह व्याकुल हुआ हो।

जगदेव से मैंने कहा—'यार, लगता है कि सारा कलकत्ता इन्हीं कंगलों से पट गया है। पहले तो मैंने अकाल की भीषणता का ऐसा अनुमान भी नहीं किया था।'

जगदेव—'अमाँ, कुछ न पूछो, इन कम्बख्तों के मारे तो सड़क पर चलना हराम हो गया है। शहर की सुन्दरता को इन्होंने चौपट कर रखा है—जहाँ देखो सड़क पर, फुटपाथ पर, पार्कों में, इधर-उधर जहाँ इंच भर भी जगह मिली, ये कम्बख्त दाखिल हो गये हैं। और तो और, रास्ता चलना भी मुश्किल हो गया है। देख नहीं रहे हो, ड्राइवर को गाड़ी चलाने में कितनी परेशानी उठानी पड़ती है। जरा धक्का लगे और खत्म हो जायँ। बस हत्या ही हाथ लगेगी—पर ये मानते नहीं।'

मैं—'यह तो समझ में नहीं आता कि आखिर देखते-देखते ऐसा अकाल कैसे पड़ गया। फसल मारी नहीं गयी, और दैवी आफत-विपत आयी नहीं; आखिर अन्न गया कहाँ कि इस तरह इधर के सारे आदमी भूखों मर रहे हैं?'

जगदेव हँसा, बोला—'अन्न जायेगा कहाँ ? वह सरकारी गोदामों में पड़ा सड़ रहा है और उससे भी जो अन्न बचा, वह सेठों के कोठों में भरा पड़ा है। अब वे चाँदी काट रहे हैं। सच मानों, सोने के मूल्य पर अनाज बिकता है आज बंगाल में! और मिलिट्री गोदामों में लाखों टन आटा-चावल सड़ रहा है। कुछ गोदामों का अनाज तो ऐसा सड़ गया है कि सरकारी डाक्टरों ने उन्हें मनुष्य के लिए अखाद्य घोषित कर दिया है। उसके नष्ट करने का भी ठेका देना पड़ता है—काम तो कुछ बढ़ जाता है-पर मेरे एक सेठ दोस्त हैं। उन्होंने मुझे सुझाया कि डाक्टरों से कह कर कुछ खाद्य अनाज को भी अखाद्य घोषित करा दें और उसको नष्ट करने का ठेका मुझे दे दिया जाय—काफी आमदनी की सूरत है। इस तरह से काफी रकम बन जाती है।'

'साथ ही एक बात और है।' जगदेव ने रहस्यात्मक ढंग से मुस्करा कर कहा। उसकी हँसी मुझे बड़ी लुभावनी लगी। मैं तुरन्त समझ गया कि कोई बड़े पते की बात अभी सुनने को मिलेगी।

उत्सुक होकर मैंने पूछा 'क्या ?'

'इस अकाल से जहाँ अन्य लोगों को नुकसान है'—उसने मुस्कराते हुए कहा—'वहाँ कुछ भाग्यवानों को सुनहला मौका भी मिला है।'

बात को मैं सही रूप में समझ नहीं पाया। उत्सुक होकर पूछा—सेठ-महाजनों की तो चाँदी कट रही है—साथ ही तुम्हारे जैसे लोग भी दोनों हाथों से रुपया बटोर रहे हैं, क्यों ?

जगदेव—'अमाँ मारो गोली रुपये को। वह तो आता-जाता ही रहता है। पर उससे भी बड़ी बात है। एक से बढ़ कर परियाँ मुफ्त में मिल रही हैं।'

यह कह कर जगदेव मुस्कराने लगा। सुनकर मेरा हृदय भी प्रसन्नता से नाच उठा। उल्लसित होकर मैंने पूछा—'मुफ्त में ?'

इसीलिये तो तुमको मैंने बुलाया है कि महीना दो महीना मेरे साथ

कर इसका लुत्फ उठा लो। तुम भी क्या याद रखोगे कि किसी दरिया-दिल दोस्त की मेहमांनवाजी कैसी होती है।'

यह कह कर जगदेव ठठाकर हँस पड़ा। उस हँसी में उसके हृदय का उल्लास फूटा पड़ता था। मैंने भी उसकी हँसी में हृदय से योग दिया।

आखिर जिन्दगी में ऐसे क्षण आते ही कितने हैं—जब एक लँगोटिया यार के साथ ऐश-मौज का जायका लिया जाय। वह तो कहो कि मैं जन्म से ही किस्मत का धनी था। अपने राम की अब तक की जिन्दगी तो इसी ऐश-मौज में कट गयी। कल की चिन्ता करने वाले कोई दूसरे होंगे।

जितने दिनों तक कलकत्ते में रहा नित नये आनन्द का उपभोग करता रहा। उस समय मेरी उम्र पचास पार कर चुकी थी। जगदेव भी इसी उम्र का था। पर उम्र से क्या आता जाता है। सही बात है कि मैं तो अपनी उम्र से पन्द्रह वर्ष कम का जँचता हूँ। आज मैं साठ पार कर चुका हूँ—पर पैंतालीस से अधिक का कोई अन्दाज ही नहीं लगा पाता। फिर मैं तो मानता हूँ कि साठा तब पाठा। साठ की उम्र पर ही आदमी पट्ठा होता है—यह मैं उनके लिए कह रहा हूँ, जिन्होंने जिंदगी का उपभोग किया है। दर-दर मारे-मारे फिरनेवाले कंगालों की बात मैं नहीं करता और न उन्हीं की बात करता हूँ जो करोड़-अरब की सम्पत्ति तो रखे हैं—जगत सेठ हो गये पर दो छटाँक की खिचड़ी भी जिन्हें हजम नहीं होती। यहाँ तो जैसा खाया है—वैसा सैर-शिकार, खेल-कूद, ऐश-मौज की जिन्दगी भी गुजारी है अभी तो मैं कम-से-कम पचीस वर्ष तक और जवान रहने वाला हूँ। आज से करीब दस साल पहले तो कुछ पूछना ही नहीं था। उस समय के मेरे उत्साह और ऐश-मौज को लक्ष्य कर जगदेव ने मजाक में कहा था—

'रीपू, तुम तो पचीस साल के छोकरे मालूम होते हो।'

मैंने भी उसी तरह जवाब किया था—'और तुम कौन बूढ़े बाबा बन गये हो। सही बात यह है कि हम लोगों पर भगवान् प्रसन्न हैं—वही चाहता है कि उस हम भक्त स्वर्गीय सुख का उपभोग भर जीवन करते रहें।'

फिर हम दोनों साथ ही ठठाकर हँस पड़े थे।

जिन्दगी में ऐसा मौका और भी एक बार आया है और वह था उस अकाल के चार पाँच वर्ष बाद हिन्दुस्तान के बँटवारे के समय। उस समय भी शरणार्थियों से सारा हिन्दुस्तान पट गया था—उसकी निशानी तो अब भी है हो, पर उस समय पचासों लाख शरणार्थियों से सारा देश ही भर गया था—लगता था जैसे सारा देश ही खानाबदोश हो गया हो।

उस उथल-पुथल में भी इसी तरह का मौका हाथ आया था। बल्कि उस मौके पर जो नजारा दिखायी दिया था, साथ ही जो बाजार पट गया था, वह अकाल के समय कहाँ था? पर अब तो वह मौसम भी बीत चला। बस, उन दिनों की याद ही ताजा है। किसी मधुर सुख-स्वप्न की लुभावनी स्मृति की तरह।

ऐसी स्मृतियाँ भी कितनी प्यारी होती हैं! कितनी लुभावनी होती हैं! उनके साथ भावना का सम्बन्ध जुड़ा रहता है फूल की खुशबू जैसे इत्र में बसी रहती है, फूल की आत्मा जैसे इत्र में समायी रहती है, उसी तरह सुखद घटनाओं की आत्मा उसकी स्मृति में समायी रहती है। उसकी स्मृति मात्र से हृदय आनन्द से पुलकित हो उठता है।

आखिरी चाल

लड़ाई के दरम्यान ही अंग्रेज सरकार को इस तथ्य का आभास मिल गया कि अब हिन्दुस्तान की जनता को दबाकर रखना असम्भव

है। अब उसको अपने शासन के जाल में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। इसलिये जनता को भुलाने के लिए वह राजनीतिक चालें खेली जा रही थीं। पर उसमें जनता फँस नहीं सकी। लड़ाई के खत्म होते न होते उन्हें यह पूरी तरह अनुभव हो गया कि अब यह देश हमारे हाथों से सरक जायगा और अगर अपनी कस ढीली नहीं करते हैं तो इन्हें जकड़ने वाली ताकत ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। इसलिए उसने १५ अगस्त १६४७ को अपना शासन-तन्त्र इस देश से हटा लिया ताकि राजनीतिक सत्ता न रखकर भी व्यापारी सत्ता कायम रखे।

इस सत्ता-हस्तान्तरण के समय उसने सारे देश को हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में बाँट दिया। कांग्रेसी नेता उस शासन संभालने के लिए आतुर थे—हम छोटे-बड़े सभी इस तथ्य को महसूस कर रहे थे कि अगर शासन की डोर हम लोगों ने न हथिया ली तो फिर शासन सूत्र किसान-मजदूर-जनता के हाथ चला जायगा। उस समय बँटवारे के रूप में जो तनातनी कायम हुई उसमें लाखों आदमियों की हिन्दू-मुसलमान के नाम पर जानें गयीं। दोनों ओर के मिला कर करोड़ के पार आदमी बे-घरबार हो गये।

हिन्दू-मुसलिम दंगे का जो प्रसंग चला है तो एक गुप्त रहस्य मैं प्रकट कर दूँ—आज उसे प्रकट करने में कोई भी भय नहीं है। उस समय मेरी भी प्रबल आकांक्षा थी कि यह हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य और भी बढ़े और इसके लिए हमने एक दूसरे को उकसाया भी। उस समय मैंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वालों का खुल कर साथ दिया। बड़े-बड़े सेठ महाजनों ने इस काम में लाखों लाख रुपये खर्च किये। इसका एक कारण था। हम लोगों ने इस बात को समझ लिया था कि अगर इस समय हिन्दू-मुसलमानों का यह आपसी वैमनस्य नहीं फैला दिया जाता है—तो क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी तो एक हैं—कोई खेती करता है, कोई मजदूरी करता है—उन सबकी असली जात तो

एक ही है। और वे सभी हमारे ऐसों के पीछे पड़े हैं—मौका पाकर हमें खतम कर देंगे। इसलिए उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए हम लोगों ने यह आवश्यक समझा कि उन्हें आपस में, धर्म और अन्ध विश्वास के नाम पर लड़ा दिया जाय—दोनों खूंख्वार भेड़िये की तरह आपस में लड़-कट मरें—ताकि हम लोग शासन का सूत्र अपने हाथों में रखें। और हुआ भी वही।

यह बात नहीं कि हम लोगों की इस चाल को कोई पहचान न पाया हो। पर हम लोगों ने जो धक्का दिया था उससे सम्भलना मुश्किल था। मैं दूर की बात क्यों कहूँ—हमारे इलाके के रोपन ने भी इस तथ्य को समझ लिया था। वह समझ गया था कि हम लोग कौन सी गोटी चल रहे हैं और इसलिए उसने हरचन्द कोशिश की कि हिन्दू-मुसलमान किसानों-मजदूरों का आपस का भाईचारा टूटने न पाये। इसके साथ ही हम लोगों के शासन हथिया लेने का भी राज वह खोलने लगा। अँग्रेजों के हटने के बाद जैसे-जैसे समय बीतने लगा हम लोगों का असली रूप उघार कर रख देने में उन सबों को सफलता मिलती गयी। जनता हमें शुबहे की नजर से देखने लगी।

इस बीच गान्धीजी की भी हत्या हो गयी थी। इस घटना से मुझे काफी सदमा पहुँचा। गान्धीजी के प्रति मुझे अब तक आन्तरिक श्रद्धा हो गयी थी। इसका कारण यह था कि हम लोगों के ऊपर उनके अमित उपकार थे। उनकी छत्रछाया में हम लोगों की उन्नति हुई थी और सच कहूँ तो उनके प्रभाव से ही हम लोग अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाये थे।

एक बात का और भी उल्लेख कर दूँ। कांग्रेस की मिनिस्ट्री कायम होने पर राजनीतिक पीड़ित के रूप में हम लोगों को एक खासी लम्बी रकम प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ। बीरू हमारे प्रान्त के एक मन्त्रियों में से हो गया। इसके

लिए मुझे अपने प्रभाव का भी पूरा उपयोग करना पड़ा। मुख्य मन्त्री पर मैंने इसके लिए काफी दबाव डाला कि हमारे परिवार की सेवाओं को ध्यान में रखकर बीरू को मन्त्रिपद मिलना ही चाहिये। यहाँ पर एक बात का और भी उल्लेख कर दूँ कि मेरा बचपन का साथी जगदेव जैसे अँग्रेजी राज्य में भाग्य का धनी था वैसे ही इस समय भी उसके भाग्य ने उसका साथ दिया। पहले तो वह ट्रेड कमिश्नर नियुक्त हुआ और अब फिर एक प्रान्त का गवर्नर नियुक्त हो गया है।

कॉंग्रेस की मिनिस्ट्री कायम होने और कॉंग्रेसियों के सत्तारूढ़ होने के बावजूद सच पूछा जाय तो हम लोगों को चैन नहीं है। शासन में अपने ही आदमी हैं—देखा जाय तो बीरू और जगदेव जैसे ही लोग ज्यादा हैं। इसी तरह सेठ-महाजनों का भी हाथ है और इस तरह शासन पर अपना कब्जा है। पर तो हमें इस बात का पूरा आभास हो रहा है कि परिस्थिति ज्यादा दिन टिकने वाली नहीं है। इस तरफ को ही बात कहूँ—'रोपन ने जो अपना प्रभाव कायम कर लिया है, वह हमारे लिए खतरनाक है। और यह रोपन भी न जाने किस धातु का बना है। मैं वह दिन याद करता हूँ जब यह निरक्षर भट्टाचार्य था, फिर मेरी कसौटी पर आया। पहली लड़ाई में भरती के समय की बात। उसके बाद उसका संगठन और आन्दोलन, उसका प्रभाव बढ़ा और आज वह कम्बख्त कम्युनिस्ट है। इतनी ही बात होती तो कोई खास बात नहीं थी। साथ ही किसानों का वह विश्वासपात्र है। वे सब उसकी बात के तथ्य को महसूस कर रहे हैं और उनकी शक्ति संगठित होती जा रही है। जीवन के साधनों का समुचित वितरण और उस पर अधिकार का जो उनका आन्दोलन चल रहा है किसी भी दिन यह जड़ पकड़ लेगा। इस आन्दोलन से ही आतंकित होकर कॉंग्रेसी-सरकार जमींदारी उन्मूलन बिल पास कर रही है, पर कम्बख्त इस चाल को पकड़ लिये हैं। अभी उस दिन ही रोपन के नेतृत्व में जो लम्बा जुलूस किसानों का

निकला था उसकी शक्ति और दृढ़ता से मैं आतंकित हूँ। मालूम होता है कि हम लोगों की यह चाल ज्यादा दिन नहीं चलेगी। और दरअसल उनका कहना ठीक भी है—यह जमींदारी उन्मूलन तो है नहीं। वीरू ने खुद मुझे बताया। मुख्यमंत्री पहले से ही निर्धारित किये थे, उन्मूलन के नाम पर जमींदारी का पूरा मुआवजा दे देना। यह जमींदारी आज के जमाने में तो टिक सकती ही नहीं थी, इस बहाने मुआवजे के रूप में उसका दाम ही मिल जाय, बहुत बड़ी लम्बी रकम होती है।

इस सिलसिले में विनोबाजी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट न करना उनकी सेवाओं के प्रति अन्याय होगा।

उन्होंने भूदान आन्दोलन जो चलाया है उसकी महत्ता से कौन इनकार कर सकता है। वास्तव में जैसा कि ये कम्युनिस्ट चिल्ला रहे हैं—'विनोबाजी से बढ़ कर हम जमींदारों का हितैषी और कोई भी इस समय नहीं है। नहीं तो सचमुच क्या आज यह स्थिति होती। जमीन के बारे में जो आन्दालन किसानों का चल रहा है—'उसे विनोबाजी के इस आन्दोलन से काफी धक्का लगा है। कुछ किसानों को भी काफी भ्रम उत्पन्न हो गया है। वे समझ रहें है कि विनोबाजी उनके बड़े हितैषी हैं, उन्हें जमीन दिला देंगे।

और यह जमीन देना क्या है? हजारों एकड़ जमीन जो मैंने विनोबाजी को दी है, वह ऐसी ही है जो बंजर पड़ी थी—जिनका उपयोग कभी भी नही हुआ था। इसी तरह की सारी जमीनें उन्हें दी जा रही हैं। और इस तरह हमलोगों का नाम भी काफी हो रहा है। इस प्रचार का एक साधन और भी है। अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ या तो सेठ महाजनों की हैं या हम जमींदारों की है या सरकार की हैं—वे सब गला फाड़ कर हम लोगों के इस दान का प्रचार कर रही हैं। चित्र छाप रही हैं। और दानवीर की संज्ञा से विभूषित कर रही हैं। अगर विनोबा

जी ने यह भूदान आन्दोलन चलाकर किसानों को उलझा न दिया होता, उन्हें भ्रम में न डाल दिया होता तो हम लोगों का अस्तित्व खतम ही था।

पर एक बात निश्चित है। हम लोग लाख प्रयत्न करें, लगता है अब और अधिक दिनों तक हम लोग इस सुख का उपभोग नहीं कर सकेंगे। इन कम्बख्त किसान-मजदूरों में जो चेतना जाग्रत हुई है, उनका संगठन जो दृढ़ हो रहा है, उनकी शक्ति जो बढ़ रही है, उसके धक्के को हम लोग सँभाल नहीं सकेंगे। यह जो किसान-मजदूरों की काल-वाहिनी मार्च कर रही है उसके सामने हम लोगों को एक न एक दिन घुटने टेकने ही पड़ेंगे।

पर जितने दिन तक हम जी सकें; जीयें। भगवान हमारी सहायता करे। आज मैं अपनी आत्मकथा समाप्त करता हूँ। सुनहले भूत और वर्तमान का मैंने उल्लेख कर दिया है। भविष्य तो अन्धकारमय है। हस्ताक्षरः राजा रिपुमर्दन बाकलम खुद, तारीख २६ जनवरी सन् १९५२ ई०।

॥ समाप्त ॥